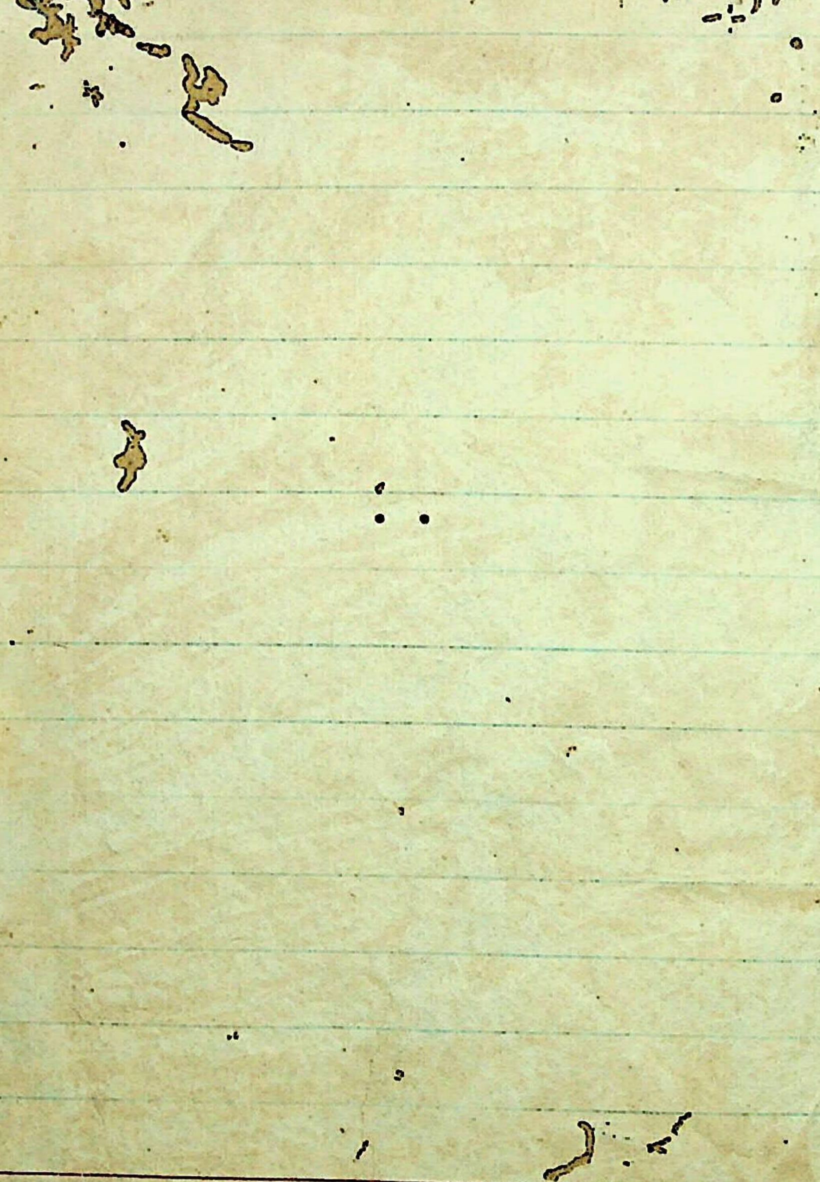
૫૫

[illegible]

[illegible]



ॐ

प्रारम्भिक-पाणिनीयम्

(परम-लघु-सिद्धान्तकौमुदी)

संस्कृत-प्रारम्भिक-श्रेणिस्थ-विद्यार्थिनां कृते सर्वतः प्रथम-पठनीयं पाणिनीय-व्याकरणम् ।

सूत्र-भाषार्थसहितम् ।

——ॐ——

सङ्कलयिता—

पञ्चाम्बु-प्रान्तान्तर्गत-होश्यारपुर-मण्डल-मध्यवर्ति 'जेजों' नगर वास्तव्य-प्रसिद्ध-पण्डितकुलप्रसूत-श्रीपं० रामनारायण-शर्म-तनूजन्मा

श्रीपण्डित विश्वनाथशास्त्री 'प्रभाकरः'

प्रिंसिपल—श्रीसरस्वती-संस्कृत-कालेज, खन्ना (पूर्व पञ्जाब)।

सहकारी सङ्कलयिता—

श्रीपंडित निगमानन्दशास्त्री विद्यालङ्कारो हिन्दीप्रभाकरः,

प्रकाशकः

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत-पुस्तक-विक्रेता,

पोस्ट बक्स ७५, चौक बनारस ।

त् २००६

मूल्य १) रु०

प्रकाशक :—
सुन्दरलाल जैन,
मोतीलाल बनारसीदास
चौक ब

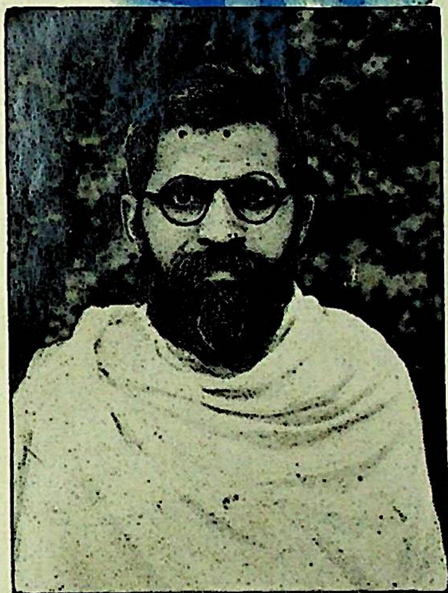
मुद्रक :—
शान्तिलाल जैन,
नवभारत प्रेस,
भदैनी—बनारस।

सर्व प्रकार की पुस्तकें नीचे लिखे स्थानों से मिलती है :—

मोतीलाल बनारसीदास

प्रकाशक तथा पुस्तकविक्रेता :—

बांकीपुर, पटना　　चौक, बनारस　　किनारी बाजार, दिल्ली



पण्डित—श्री विश्वनाथशास्त्री 'प्रभाकरः'



प्रारम्भिक पाणिनीय ।

दो शब्द

किसी भी भाषाकी शिक्षा व्याकरणके विना अधूरी रहती है। संस्कृत भाषा का तो अध्ययन ही व्याकरण-प्रधान होता है; जब कि दूसरी सभी भाषाओं का अध्ययन साहित्य-प्रधान ही चलता है। व्याकरण-प्रधान

पूर्व प्रणाली। अध्ययनने ही संस्कृत भाषाको परिपूर्ण शुद्ध और अविकल रूपमें आज तक सुरक्षित रख छोड़ा है। संस्कृत व्याकरणों में पाणिनीय-व्याकरणका स्थान सबसे ऊँचा है, यतः—यह व्याकरण सर्वाङ्ग-पूर्ण सर्वांगसुन्दर और पूर्ण-परिमार्जित प्रमाणित हुआ है। पाणिनीय व्याकरण का मूलभूत ग्रन्थ है "अष्टाध्यायी" यह प्राचीन अनुशासन प्रणालीका ग्रन्थ है, पूर्वकालमें सबसे पहले इसी ग्रन्थको पढ़ते थे, समस्त पुस्तक कण्ठस्थ कर लेने के अनन्तर शब्दसाधन आरम्भ किया जाता, एक शब्दकी सिद्धिके लिये सारी अष्टाध्यायीकी छानबीन करनी होती विद्यार्थियोंके लिये इस प्रणालीमें कष्ट अनुभव किया गया, तब प्रक्रिया-प्रधान नवीन प्रणालीका आविर्भाव हुआ। मूलसे न चलकर चूलसे चलना आरम्भ हुआ—आवश्यक संज्ञाप्रकरण रख कर वाक्य-विशकलनके लिये संधिप्रकरणको सवप्रथम

अर्वाचीन प्रणाली स्थान दिया गया, अनन्तर सुबन्तसाधनार्थ षड्लिंग स्त्रीप्रत्यय कारक समास तद्धित रखे गये और तिङन्त-पद-सिद्ध्यर्थ गण प्रक्रिया कृदन्त प्रकरण रखें गये, वैदिक प्रकरण तथा स्वर-प्रकरण निकाल कर पृथक् कर दिया गया, इस प्रणालीके प्रौढ़ ग्रन्थ हैं प्रक्रिया कौमुदी तथा भट्टोजि दीक्षितकी 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी'।

प्रारम्भिक व्याकरणग्रन्थ।

यह प्रणाली सरल अवश्य सिद्ध हुई, पर विस्तृत होनेके कारण प्रारम्भिक छात्रोंका कष्ट इससे दूर न होसका, अतः पण्डित श्री वरदराजने सिद्धान्तकौमुदी [illegible] संक्षिप्त संस्करण मध्यकौमुदी और लघुकौमुदीका निर्माण किया। लघुकौमुदी पाणिनीय व्याकरण [illegible] के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। यह पाणिनीय व्याकरणकी प्रवेशिका [illegible] सकती है, इसका पूर्णतया अध्ययन कर लेनेसे व्याकरणके सभी विषयोंका ज्ञान हो जाता है।

किन्तु आजका प्रारम्भिक शिशुविद्यार्थी लघुकौमुदीसे पूर्ण लाभ उठानेमें असमर्थ हो गया है, यथाकथञ्चित् पड्लिंग समाप्त कर शिशुछात्र गणोंके बीहड़ जंगल में उलझ जाता है, उत्साह ढीला पड़ जाता है, आगेके आवश्यक प्रकरणोंसे वञ्चित रह जाता है, अधूरे प्रकरण रट रटा कर परीक्षा पास कर लेना चाहता है। प्रकरणों का अधूरा ज्ञान उसके भविष्यको धूमिल बना देता है।

पुस्तक परिचय।

प्रारम्भिक शिशुछात्रों के इस कष्ट को दूर करने के अभिप्राय से यह **'प्रारम्भिक पाणिनीय'** नामक छोटी-सी पुस्तिका—जिसे 'परम-लघु-कौमुदी' भी कहा जा सकता है—संकलित की गई है। इसमें विस्तार को सर्वथा त्याग दिया गया है, अत्यावश्यक प्रारम्भिक विषय ही संगृहीत किये गये हैं। प्रकरणों में अतिसंक्षेपसे काम लिया गया है—सन्धिप्रकरण में अत्यावश्यक साधारण सरल प्रयोग ही संग्रह किये गये हैं—अधिक वैकल्पिक दुरूह प्रयोग छोड़ दिये गये हैं, षड्लिंगों में भी बहुत थोड़ेसे अतिसरल अत्यावश्यक शब्द ही रखे गये हैं, अनन्तर कुछ अव्यय देकर अतिसंक्षिप्त कारक प्रकरण और संक्षेपसे समास प्रकरण दे दिया गया है। इसके आगे परमसंक्षिप्त तद्धित प्रकरण है, फिर थोड़े से स्त्रीप्रत्यय रखे गये हैं, इसके आगे गण रख दिये गये हैं, गणों में बहुत संक्षेप से काम लिया गया है, प्रत्येक गणमें दो तीन धातुओं से अधिक धातु नहीं रखी गई। आगे प्रक्रिया केवल तीन ही रक्खी गई हैं—णयन्त, सन्नन्त, भावकर्म। इसके आगे थोड़ेसे कृदन्त दे दिये गए हैं, एवं लगभग साढ़े चार सौ सूत्रों में सारा ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है।

नम्र निवेदन

आदरणीय अध्यापक वर्ग !

संस्कृतकी प्रारम्भिक शिक्षा आज सर्वथा विश्रृंखल हो रही है, कोई भी एक निश्चित क्रम नहीं है, विशेषतः संस्कृतविद्यालयों में, वर्णशिक्षा पूरी होते ही शिशुछात्र के हाथ में लघुकौमुदी पकड़ा दी जाती है, सूत्रोंकी रटन्त में ही सालों बीत जाते हैं, कोई आकर्षण न होने से मनोयोग उत्पन्न नहीं होता, हम छात्र पर पढ़ाई बलात् ठोकते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि छात्र वर्षोंके बाद प्राज्ञ प्रथमा परीक्षा देने के योग्य बन पाता है तथापि व्युत्पन्न नहीं हो पाता। अतः संस्कृत शिक्षाके कर्णधारों विद्यालयाध्यक्षों तथा सहयोगी अध्यापकोंकी सेवा में विनीत प्रार्थना है कि इस ओर अवश्य शीघ्र ध्यान दें। संस्कृतकी प्रारम्भिक शिक्षाको नियत क्रम-बद्ध तथा परिष्कृत बनायें।

प्रारम्भिक शिक्षाक्रम। लघुकौमुदी आरम्भ करने से पहले कम से कम दो वर्ष का पाठ्य हिन्दी में होना चाहिये, जिसके चार भाग हों, प्रत्येक भाग छे मास में समाप्त हो। इन चारों भागों में हिन्दीका पढ़ना लिखना, साधारण गणित, साधारण भूगोल, अतिसरल प्राचीन इतिहास रहना चाहिये। और साथ ही तृतीय तथा चतुर्थ भाग में संस्कृतका प्रारम्भिक शिक्षण आरम्भ करा दिया जाए। जिसमें भाषा-शिक्षणके लिए संस्कृत पाठ-मालायें तथा ऋजुपाठ, और व्याकरण-शिक्षाके लिए यह "प्रारम्भिक पाणिनीय" पूर्वार्ध उत्तरार्ध भाग एक वर्षमें पढ़ा दिया जाय। अनन्तर लघुकौमुदी हितोपदेश आदि प्राज्ञ श्रेणीका पाठ्य बड़े आनन्द से पढ़ाया जा सकेगा।

मुझे अति प्रसन्नता होगी यदि मेरे माननीय सहयोगी इस विषय पर अपने विचार प्रकट करें, और संस्कृत-प्रारम्भिक शिक्षा की उपयोगी पुस्तिकाएँ निर्माण कर इस असह्य अभाव को दूर करने की

सविनय अनुरोध। चेष्टा करें। और साथ ही अपने २ विद्यालयों में क्रमबद्ध प्रारम्भिक शिक्षाको स्थान दें। आज दूसरी भाषाओंका प्रारम्भिक शिक्षाक्रम अत्यन्त सुन्दर परिमार्जित तथा सारल्य-पूर्ण बन चुका है, पर संस्कृत-शिक्षा के कर्णधारों की कुम्भकर्णी निद्रा अभी

नहीं टूटी। अब समय है, ईश्वर की कृपा से इस विषय के धुरन्धर विद्वान् आज भी विद्यमान हैं, जिनके तनिक उद्योग से यह जटिल समस्या शीघ्र सुलझ सकती है। सुन्दर तथा वर्तमान-समयोपयोगी प्रारम्भिक संस्कृत पाठमालायें तथा आरम्भिक संस्कृतशब्दकोश निर्माण किये जा सकते हैं।

व्याकरण-विषयक प्रारम्भिक शिक्षा के लिए छोटी-सी पुस्तिका लिखने का मैंने साहस किया है, अच्छा होता यदि यह काम किसी विशेष अनुभव-सम्पन्न विद्वान् द्वारा सम्पन्न होता, पर मैं विशेष अनुभवी विद्वानों से आशा रखता हूँ कि मेरी धृष्टता पर वे क्षमा करेंगे और मेरे इस प्रयास को अपने पुनीत हृदय में अवश्य स्थान देंगे। और मेरी त्रुटियों की सूचना मुझे देकर इसे पूर्ण परिमार्जित रूप में लाने के लिए मेरे सच्चे सहायक बनेंगे।

क्षमाप्रार्थना।

प्रभु की कृपा से आज यह पुस्तक इस रूप में सम्पन्न हो सकी है, श्री पं० निगमानन्द शास्त्री ने शिशुछात्रोपकारार्थं सूत्रभाषा लिखकर इसे और भी उपयोगी बना दिया है। एवं यह सुन्दर "उपहार" हम शिशुछात्रों के अति-ललित कोमल करकमलों में सस्नेह समर्पण करते हैं। हमें पूर्ण आशा है—शिशुछात्र इस उपहार से अति प्रसन्न होंगे, और पूर्णतया लाभ उठायेंगे।

सस्नेह समर्पण।

भवदीय स्नेही
विश्वनाथ शास्त्री
श्रा० शु० द्वितीया

द्वितीय संस्करण

यह द्वितीय संस्करण पहले की अपेक्षा संशोधित तथा परिमार्जित रूप में प्रकाशित किया गया है। पहले की सब त्रुटिएं और अशुद्धिएं इसमें दूर कर दी गई हैं। आशा हैं शिशुछात्र इससे अब पूर्ण लाभ उठा सकेंगे।

सङ्कलयिता
फा० शु० १०, सं० २००५ (१९४९)



श्रीहरिः शरणम्।

श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

अथ प्रारम्भिक–पाणिनीयम्।

संज्ञा-प्रकरणम्।

(शिव–सूत्राणि)

अ इ उ ण्। ऋ लृ क्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्। ह य व र ट्। लण्। ञ म ङ ण न म्। झ भ ञ्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ड द श्। ख फ छ ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। ह ल्।

इति माहेश्वराणि सूत्राणि अणादि–सञ्ज्ञार्थानि। एषाम् अन्त्या इतः। हकारादिषु अकार उच्चारणार्थः। लण् मध्ये तु इत्सञ्ज्ञकः।

१ उपदेशेऽजनुनासिक इत्‌ १। ३। २।

उपदेशेऽनुनासिकोऽच् इत्सञ्ज्ञः स्यात्।

भाषार्थः—

इति माहेश्वराणीत्यादि—ये चौदह सूत्र अण् आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) की सिद्धि के लिये महेश्वर की कृपा से प्राप्त हुये हैं। इनके अन्त के अक्षर इत्संज्ञक हैं। हकार आदि अक्षरों में अकार उच्चारण मात्र के लिये हैं। किन्तु—'लण्' सूत्र में अकार इत्संज्ञक है।

१—उपदेश में अनुनासिक अच् की इत् सञ्ज्ञा होती है।

२ हलन्त्यम् १ । ३ । ३ ।

उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात् । उपदेशः = आद्योच्चारणम् ।

३ अदर्शनं लोपः १ । १ । ६० ।

प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोप-सञ्ज्ञं स्यात् ।

४ तस्य लोपः १ । ३ । ९ ।

इत्सञ्ज्ञकस्य लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ।

५ आदिरन्त्येन सहेता १ । १ । ७१ ।

अन्त्येन इता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् । यथा—"अण्" इति अ इ उ वर्णानां सञ्ज्ञा । एवम्—अक् अच् अल् हल् इत्यादयः ।

६ ऊकालोऽज् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः १ । २ । २७ ।

उ ऊ ऊ ३ इत्युच्चारण-काल-सदृश-कालोऽच् क्रमात् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत सञ्ज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादि-भेदेन त्रिधा ।

७ उच्चैरुदात्तः १ । २ । २९ ।

२—उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है । पाणिनि आदि आचार्यों के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं ।

३—विद्यमान के अदर्शन को लोप कहते हैं ।

४—इत्संज्ञक का लोप होता है ।

'अ इ उण्' इत्यादि सूत्रों में णकार आदि अक्षर अण्-अक्-अच् इत्यादि प्रत्याहार सिद्धि के लिये हैं ।

५—अन्त्य इत् के साथ उच्चार्यमाण आदिवर्ण, मध्यगामी वर्णों का तथा अपना बोधक होता है । जैसे-'अण' यह अ इ उ वर्णों का बोधक है । ऐसे ही अक्-अच्-अल्-हल् इत्यादि प्रत्याहार जाने ।

६—उकारत्रय के उच्चारणकाल के समान उच्चारण वाला अच् ह्रस्व-दीर्घ- प्लुत संज्ञा वाला होता है । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद से तीन प्रकार का अच् पुनः उदात्तादि भेद से तीन प्रकार का होता है ।

७—ऊँचे उच्चारण को 'उदात्त' कहते हैं ।

८ नीचैरनुदात्तः १ । २ । ३० ।

९ समाहारः स्वरितः १ । २ । ३१ ।

एवं स नव-विधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाऽनुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

१० मुख-नासिका-वचनोऽनुनासिकः १ । १ । ८ ।

मुख-सहित-नासिकया उच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिक-सञ्ज्ञः स्यात् । तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश (१८) भेदाः । लृ-वर्णस्य द्वादश (१२) तस्य दीर्घाभावात् । एचाम् अपि द्वादश; तेषां ह्रस्वाऽभावात् ।

११ तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् १ । १ । ९ ।

ताल्वादिस्थानम् आभ्यन्तर-प्रयत्नश्च इत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण-सञ्ज्ञं स्यात् । (ऋ-लृ-वर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्)

तत्र स्थानानि:—

अ—कु—ह—विसर्जनीयानां कण्ठः ।

८—नीचे उच्चारण को 'अनुदात्त' कहते हैं ।

९—मध्य (न ऊंचा, न नीचा) उच्चारण को 'स्वरित' कहते हैं । वह नौ प्रकार का भी अच् अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो दो प्रकार का होता है ।

१०—मुख सहित नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक संज्ञक होता है । इस प्रकार अ, इ, उ, ऋ, वर्णों में से प्रत्येक के अठारह अठारह भेद होते हैं । दीर्घ न होने से लृवर्ण के बारह भेद होते हैं । ह्रस्व न होने से एचों के भी बारह बारह भेद होते हैं । चक्र में देखो ।

११–तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिन वर्णों के तुल्य हों उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है । (ऋ और लृ वर्ण की आपस में सवर्ण संज्ञा होती है ।)

अथ स्थान विवेक

अकार, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय, इनका 'कण्ठ' स्थान है ।

इ—चु—य—शानां तालु ।
ऋ—टु—र—षाणां मूर्धा ।
ऌ—तु—ल—सानां दन्ताः ।
उ—पु—उपध्मानीयानाम् ओष्ठौ ।
ञ—म—ङ—ण—नानां नासिका च ।
एद्—ऐतोः कण्ठ-तालु ।
ओद्—औतोः कण्ठोष्ठम् ।
'व' कारस्य दन्तोष्ठम् ।

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेदाः	दीर्घभेदाः	प्लुतभेदाः
१ ह्र. उदात्तानुनासिकः	७दी. उदात्तानुनासिकः	१३प्लु. उदात्तानुनासिकः
२ ह्र. उदात्ताननुनासिकः	८दी. उदात्ताननुनासिकः	१४प्लु. उदात्ताननुनासिक
३ ह्र. अनुदात्तानुनासिकः	९दी. अनुदात्तानुनासिकः	१५प्लु. अनुदात्तानुनासिक
४ ह्र. अनुदात्ताननुनासिकः	१०दी. अनुदात्ताननुनासिकः	१६प्लु. अनुदात्ताननुनासि
५ ह्र. स्वरितानुनासिकः	११दी. स्वरितानुनासिकः	१७प्लु. स्वरितानुनासिकः
६ ह्र. स्वरिताननुनासिकः	१२दी. स्वरिताननुनासिकः	१८प्लु. स्वरिताननुनासि

इकार, चवर्ग, यकार और शकार, इनका 'तालु' स्थान है ।
ऋकार, टवर्ग, रेफ और षकार, इनका 'मूर्धा' स्थान है ।
ऌकार, तवर्ग, लकार और सकार, इनका 'दन्त' स्थान है ।
उकार, पवर्ग, और उपध्मानीय, इनका 'ओष्ठ' स्थान है ।

ञकार–मकार–ङकार–णकार–नकार, इनका नासिका स्थान है, चकार से स्व–स्व स्थान भी हैं ।

ए और ऐ का कण्ठ-तालु स्थान है ।
ओ और औ का कण्ठोष्ठ स्थान है ।
वकार का दन्तोष्ठ स्थान है ।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् ।

अनुस्वारस्य नासिका ।

ᳵक, ᳵख इति कखाभ्यां प्राग् अर्ध-विसर्गसदृशो जिह्वा-मूलीयः ।

ᳶप, ᳶफ इति प-फाभ्यां प्राग् अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीयः ।

'अं', 'अः' इत्यचः परौ अनुस्वार—विसर्गौ ।

अथ प्रयत्नाः

यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टम्, ईषत्स्पृष्टम्, विवृतम्, ईषद्-विवृतम्, संवृतम्, इति भेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टम् अन्तः स्थानाम् । विवृतं स्वराणाम् । ईषद्-विवृतम् ऊष्मणाम् । संवृतं प्रयोगे ह्रस्वाऽवर्णस्य ।

कादयो माऽवसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । श-ष-स-हाः = ऊष्माणः । अचः = स्वराः । हलो-व्यञ्जनानि ।

जिह्वामूलीय का जिह्वामूल स्थान है ।

अनुस्वार का नासिका स्थान है ।

ᳵक ᳵख से पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश जिह्वामूलीय कहलाता है ᳶप ᳶफ से पूर्व अर्ध विसर्ग सदृश उपध्मानीय कहलाता है । अनुस्वार और विसर्ग अच से परे होते हैं । जैसे—'अं' 'अः' ।

अथ प्रयत्न

यत्न दो प्रकार का है; आभ्यन्तर और बाह्य । आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का है, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, ईषद्विवृत, और संवृत । उनमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शों का है, अन्तःस्थों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है । स्वरों का विवृत प्रयत्न है । ऊष्मवर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है । ह्रस्व अवर्ण का प्रयोग में संवृत प्रयत्न होता है । क से म तक स्पर्श कहलाते हैं । यणों को अन्तःस्थ वर्ण कहते हैं । श ष स ह को ऊष्मवर्ण कहते हैं । अचों को स्वर कहते हैं । हलों को व्यञ्जन कहते हैं ।

बाह्यप्रयत्न एकादशधा—विवारः, संवारः, श्वासः, नादः, अघोषः, घोषः, अल्पप्राणः, महाप्राणः, उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितश्चेति। खरां विवारः, श्वासोऽघोषश्च। हशां संवारो, नादो, घोषश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

आभ्यन्तरप्रयत्नचित्रम्

स्पृष्टम्	ई. स्पृ.	विवृतम्	ई. वि.	संवृतः
क. च. ट. त. प.	य.	अ. ए.	श.	ह्रस्वः 'अ' प्रयोगे
ख. छ. ठ. थ. फ.	र.	इ. ओ.	ष.	
ग. ज. ड. द. ब.	ल.	उ. ऐ.	स.	
घ. झ. ढ. ध. भ.	व.	ऋ. औ.	ह	
ङ. ञ. ण. न. म.		लृ.		

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है, जैसे—विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित।

खर् प्रत्याहार के वर्णों के विवार-श्वास-अघोष प्रयत्न होते हैं। हश् प्रत्याहार के वर्णों के संवार-नाद-घोष प्रयत्न होते है। वर्गों के प्रथम-तृतीय पञ्चम वर्ण तथा यण्, इनका अल्पप्राण प्रयत्न होता है। वर्गों के द्वितीय-चतुर्थ वर्ण और शल् प्रत्याहार इनका महाप्राण प्रयत्न होता है।

बाह्यप्रयत्नविवेकः

विवारः श्वासः अघोषः	संवारः, नादः घोषः	अल्पप्राणः	महाप्राणः	उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरित
क. ख. श.	ग. घ. ङ. य.	क. ग. ङ. य. अ. लृ.	ख. घ. श.	अ. ए.
च. छ. ष.	ज. झ. ञ. व.	च. ज. ञ. व. इ. ए.	छ. झ. ष.	इ. ओ.
ट. ठ. स.	ड. ढ. ण. र.	ट. ड. ण. र. उ. ओ.	ट. ढ. स.	उ. ऐ.
त. थ.	द. ध. न. ल.	त. द. न. ल. ऋ. ऐ.	थ. ध. ह.	ऋ. औ.
प. फ.	ब. भ. म. ह.	प. ब. म. औ.	फ. भ.	लृ.

१२ अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः १ । १ । ६९ ।

अविधीयमानोऽण् उदित् च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैव 'अण्' परेण णकारेण । कु-चु-टु-तु-पु एते उदितः । तदेवम् —'अ' इत्यष्टादशानां (१८) सञ्ज्ञा । तथा इकारः, उकारश्च । ऋकारः त्रिंशतः (३०) सञ्ज्ञा । अनुनासिकऽननुनासिक-भेदेन य-व-ला द्विधा । ते च द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ।

१३ परः सन्निकर्षः संहिता १ । ४ । १०९ ।

वर्णानामति--सन्निधिः संहिता--सञ्ज्ञः स्यात् ।

१४ हलोऽनन्तराः संयोगः १ । १ । ७ ।

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग--सञ्ज्ञाः स्युः ।

१५ सुप्तिङन्तं पदम् १ । १ । १४ ।

सुबन्तं तिङन्तञ्च पद-सञ्ज्ञं स्यात् । यथा—रामः भवति, ।

१६ अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १ । १ । ६५ ।

अन्त्यादलः पूर्वो वर्णउपधासञ्ज्ञः स्यात् ।

इति सञ्ज्ञा-प्रकरणम् ।

—०※०—

१२—अविधीयमान अण् और उदित् सवर्ण का बोधक होता है । केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर-णकार (लण् के णकार) से लिया जाता है । कु-चु-टु-तु-पु ये उदित् कहलाते हैं ।

'अ' यह अठारह का बोधक होता है । इसी प्रकार इकार उकार भी अठारह अठारह के बोधक होते हैं । ऋकार तीस का बोधक होता है । अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य-व-ल दो-दो प्रकार के होते हैं । अत एव अननुनासिक य-व-ल दो-दो के बोधक होते हैं ।

१३—वर्णों की अतिशय समीपता को 'संहिता' कहते हैं ।

१४—अचों के व्यवधान से रहित हल संयोग संज्ञक होते हैं ।

१५—सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है । जैसे—रामः, भवति ।

१६—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

अथ अच्--सन्धिः ।

१७ इको यणचि ६ । १ । ७७ ।

इकः स्थाने यण् स्याद् अचि संहितायां विषये । सुधी+उपास्यः, इति स्थिते ।

१८ स्थानेऽन्तरतमः १ । १ । ५० ।

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । ईकारस्य यका "अज्-हीनं परेण संयोज्यम्" सुध्युपास्यः । मधु + अरिः=मध्वरि धातृ + अंश =धात्रंशः । लृ + आकृतिः=लाकृतिः । गौरी + आग च्छति=गौर्यागच्छति । कुरु + इदम्=कुर्विदम् । मातृ + आज्ञा= मात्राज्ञा । लृ + आकारः=लाकारः ।

१९ एचोऽयवायावः ६ । १ । ७८ ।

एचः क्रमात् 'अय् अव् आय् आव्' एते स्युरचि । हरि+ए=हरये । विष्णो + ए=विष्णवे । नै + अकः=नायकः । पौ+ अकः=पावकः । ने + अति=नयति । भो + अति=भवति । वटो+ ऋक्षः=वटवृक्षः । ग्लै + अति=ग्लायति । नौ + इकः=नाविकः भौ + उकः=भावुकः ।

२० अदेङ् गुणः १ । १ । २ ।

अत् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अथ अच्सन्धि

१७–इक् के स्थान में यण् होता है अच् परे होने पर संहिता के विषय में

१८–प्रसंग होने पर सदृशतम आदेश होता है । अच् रहित वर्ण अगले वर्ण के साथ मिला देना चाहिये ।

१९—एचों को क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं अच् परे हो तो ।

२०—अत् और एङ् की गुण संज्ञा होती है ।

२१ तपरस्तत्कालस्य १ । १ । ७० ।

तः परो यस्मात् तान् परश्च उच्चार्यमाण-समकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् ।

२२ आद्गुणः ६ । १ । ८७ ।

अवर्णाद् अचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात् । उप + इन्द्र = उपेन्द्रः । गङ्गा + उदकम् = गङ्गोदकम् । गज + इन्द्रः = गजेन्द्रः । रमा + ईशः = रमेशः । सूर्य + उदयः = सूर्योदयः । पाठ + उत्सुकः = पाठोत्सुकः ।

२३ उरण् रपरः १ । १ । ५१ ।

ऋ-स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्ण + ऋद्धिः = कृष्णर्द्धिः । राज + ऋषिः = राजर्षिः । वसन्त + ऋतुः = वसन्तर्तुः ।

२४ वृद्धिरादैच् १ । १ । १ ।

आद् ऐच्च वृद्धि-संज्ञः स्यात् ।

२५ वृद्धिरेचि ६ । १ । ८८ ।

आद् एचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्ण + एकत्वम् = कृष्णैकत्वम् । गङ्गा + ओघः = गङ्गौघः । देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् । कृष्ण + औत्कण्ठ्यम् = कृष्णौत्कण्ठ्यम् । पश्च + एते =

२१—तकार है परे जिससे अथवा तकार से परे जो अच् वह उच्चार्यमाण समानकाल का ही बोधक होता है । (अर्थात्—यदि ह्रस्व के साथ त् है तो ह्रस्व का, दीर्घ प्लुत के साथ त् होगा तो दीर्घ और प्लुत का ही बोधक होगा) ।

२२—अवर्ण से अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में गुण रूप एक आदेश होता है ।

२३—तीस प्रकार की ऋ के स्थान में होने वाला अण् रपर होकर प्रवृत्त होता है ।

२४—आत् और ऐच् की वृद्धि संज्ञा होती है ।

२५—अवर्ण से एच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है । यह सूत्र गुण का अपवाद है ।

पञ्चैते । तण्डुल + ओदनम्=तण्डुलौदनम् । माधव + एधनम्=माधवैधनम् । राम + औदार्यम्=रामौदार्यम् ।

२६ अकः सवर्णे दीर्घः ६ । १ । १०१ ।

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्य + अरिः=दैत्यारिः । श्री + ईशः=श्रीशः । विष्णु + उदयः=विष्णूदयः । होतृ + ऋकारः=होतॄकारः । सुर + अरिः=सुरारिः । भानु + उदयः=भानूदयः । लक्ष्मी + ईशः=लक्ष्मीशः ।

२७ एङः पदान्तादति ६ । १ । १०९ ।

पदान्ताद् एङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरे + अव=हरेऽव । विष्णो + अव=विष्णोऽव । स्थले + अत्र=स्थलेऽत्र । कृष्णो + अहम्=कृष्णोऽहम् ।

२८ दूराद् धूते च ८ । २ । ८४ ।

दूरात् हूते (सम्बोधने) वाक्यस्य टेः प्लुतो वा ।

२९ प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम् ६ । १ । १२५ ।

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति ।

३० ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १ । १ । ११ ।

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्य-सञ्ज्ञं स्यात् । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । धनुषी एते । भानू उदयेते । कुले उत्कृष्टे ।

—:०:—　इत्यच्-सन्धिः ।

२६—अक् से सवर्ण अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में दीर्घरूप एक आदेश होता है ।

२७—पदान्त एङ् से अत् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

२८—दूर से सम्बोधन में वाक्य की टि को प्लुत होता है विकल्प से ।

२९—प्लुत और प्रगृह्य को अच् परे हो तो नित्य प्रकृतिभाव होता है ।

३०—ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचन प्रगृह्य संज्ञक होता है ।

इति अच्सन्धिः ।

अथ हल्-सन्धिः ।

३१ स्तोः श्चुना श्चुः ८ । ४ । ४० ।

सकार-तवर्गयोः शकार-चवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामस् + शेते=रामश्शेते । रामस् + चिनोति=रामश्चिनोति । सत् + चित्=सच्चित् । शार्ङ्गिन् + जय,=शार्ङ्गिञ्जय । कृष्णस् + चपलः,= कृष्णश्चपलः । ग्रामात् + चलितः=ग्रामाच्चलितः ।

३२ झलां जशोऽन्ते ८ । २ । ३९ ।

पदान्ते झलां जशः स्युः । वाक् + ईशः=वागीशः । मत् + आगमनम् = मदागमनम् ।

३३ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८ । ४ । ४५ ।

यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतत् + मुरारिः=एतन्मुरारिः । वाक् + मधु=वाङ् मधु । सत् + मनोहरम्=सन्मनोहरम् । उद् + मानम्=उन्मानम् । ऋक् + मन्त्रः= ऋङ्मन्त्रः ।

३४ खरि च ८ । ४ । ५५ ।

खरि परे झलां चरः स्युः । अस्मद् + पुत्रः=अस्मत्पुत्रः ।

३५ मोऽनुस्वारः ८ । ३ । २३ ।

मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारो हलि परे । हरिम् + वन्दे,=हरिं वन्दे । ग्रामम् + गच्छति=ग्रामं गच्छति । कृष्णम् + नमति=कृष्णं नमति ।

अथ हल्सन्धि

३१—सरकार-तवर्ग को शकार-चवर्ग के योग में शकार-चवर्ग होते हैं ।

३२—पदान्त में झलों को जश् होते हैं ।

३३—पदान्त यर् को अनुनासिक परे हो तो अनुनासिक विकल्पसे होता है ।

३४—खर् परे हो तो झलों को चर् होते हैं ।

३५—मान्त पद को अनुस्वार होता है हल् परे हो तो ।

३६ नश्चाऽपदान्तस्य झलि ८ । ३ । २४ ।

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झलि परेऽनुस्वारः । यशान्+सि=यशांसि । वासान्+सि=वासांसि । आक्रम्+स्यते=आक्रंस्यते । प्रणम्+स्यते=प्रणंस्यते ।

३७ अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः ८ । ४ । ५८ ।

अपदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि परे पर-सवर्णः स्यात् । शां+तः=शान्तः । अं+कितः=अङ्कितः । अं+चितः=अञ्चितः । कुं+ठितः=कुण्ठितः । ग्रं+थः=ग्रन्थः । दां+तः=दान्तः । गुं+फितः=गुम्फितः ।

३८ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८ । ३ । ३२ ।

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत् पदं तस्मात् परस्य अचो नित्यं ङमुट् (ङुट्—णुट्—नुट्) स्यात् । प्रत्यङ्+आत्मा,=प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्+ईश=सुगण्णीशः । सन्+अच्युतः,=सन्नच्युतः ।

३९ छे च ६ । १ । ७३ ।

ह्रस्वस्य छे परे तुक् स्यात् । शिव+छाया=शिवच्छाया ।

इति हल्—सन्धि ।



३६—अपदान्त नकार और मकार को अनुस्वार होता है झल् परे हो तो।

३७—अनुस्वार को यय् परे हो तो परसवर्ण होता है ।

३८—ह्रस्व से परे जो ङम्, तदन्त पद से परे अच् को प्रायः ङमुट् का आगम होता है ।

३९—ह्रस्व को छ परे हो तो तुक् का आगम होता है ।

इति हल्-सन्धि ।

अथ विसर्ग-सन्धिः ।

४० स-सजुषो रुः ८ । २ । ६६ ।

पदान्तस्य सस्य, सजुषश्च रुः स्यात् ।

४१ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८ । ३ । १५ ।

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् ।

४२ विसर्जनीयस्य सः ८ । ३ । ३४ ।

खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । विष्णुस् + त्राता, सस्य रुः, अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गः, विष्णुस्त्राता ।

४३ अतोरोरप्लुतादप्लुते ६ । १ । ११३ ।

अप्लुताद् अतः परस्य रोः उः स्यात् अप्लुते अति परे । शिवस् अर्च्यः, रुत्वे उत्वं, गुणे पूर्वरूपम् , शिवोऽर्च्यः । एवम्—शुद्धोऽहम् । बुद्धोऽस्मि । छात्रोऽयम् ।

४४ हशि च ६ । १ । ११४ ।

अप्लुताद् अतः परस्य रोः उः स्याद् हशि परे । शिवस् + वन्द्यः, सस्य रुत्वे उत्वं गुणः, शिवोवन्द्यः । एवम्-रामो वदति । छात्रो गच्छति । कृष्णो जयति । काको डीयते । कर्णो ददाति । व्यासो ब्रूते ।

४५ भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य योऽशि ८ । ३ । १७ ।

एतत् पूर्वस्य रोर्याऽदेशोऽशि परे । देवा इह । एवम्—छात्रा

अथ विसर्ग-सन्धि

४०—पदान्त सकार और सजुष्-शब्दके षकारको रु होता है ।

४१—खर् परे और अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग होता है ।

४२—खर् परे हो तो विसर्गों को स् होता है ।

४३—अप्लुत अत् से परे रु को उ होता है अप्लुत अत् परे हो तो ।

४४—अप्लुत अत् से परे रु को उ होता है हश् परे हो तो ।

४५ भो-भगो-अघो और अकार हो पूर्व में जिसके ऐसे 'रु' को य् होता है अश् परे हो तो ।

आगच्छन्ति। वीरा उत्सहन्ते। देवा एधन्ते। भोस्, भगोस्, अघोस्, इति सकारान्ता निपाताः, तेषां रोर्यत्वे कृते—

४६ हलि सर्वेषाम् ८। ३। २२।

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद् हलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि। देवा नमन्ति। धार्मिका वर्धन्ते। भक्ता भजन्ति। बाला रमन्ते। याज्ञिका यान्ति। विप्रा दधन्ते।

४७ रोरि ८। ३। १४।

रेफे परे रेफस्य लोपः स्यात्।

४८ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६। ३। १११।

ढ-रेफयोः-लोप-निमित्तयोः परतः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुनर् + रमते=पुना रमते। हरिर् + रम्यः=हरी रम्यः। शम्भुर् + राजते=शम्भूराजते। निर् + रसः=नीरसः। प्रातर् + रमते=प्राता रमते।

४९ एतत्तदोः सु-लोपोऽकोरनञ्-समासे हलि ६। १। १३२।

ककार-रहितयोरेतत्तद्-शब्दयोर्यः सुस्तस्य लोपः स्यात् हलि नतु नञ्-समासे। एषस् + विष्णुः=एष विष्णुः। सस् + शम्भुः=सशम्भुः। एवम्—एष शोभते। स चलति। स गच्छति। स च।

इति विसर्ग-सन्धिः॥

—०—

---

४६ भो-भगो-अघो अ-पूर्वक यकार का लोप होता है हल् परे हो तो।

४७ रेफ परे हो तो रेफ का लोप होता है।

४८ लोप निमित्त ढ और रेफ परे हो तो पूर्व अण् को दीर्घ होता है।

४९ ककार रहित एतत् और तत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप होता है हल् परे हो तो, नञ् समास में नहीं।

इति विसर्ग-सन्धि।

अथ षड्-लिङ्गेषु-अजन्त-पुँल्लिङ्गाः ।

५० अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १ । २ । ४५ ।

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवत् शब्द- स्वरूपं प्रातिपदिकसञ्ज्ञं स्यात् ।

५१ कृत्तद्धित-समासाश्च १ । २ । ४६ ।

कृत्-तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिक-सञ्ज्ञाःस्युः । राम-शब्दः कृदन्तत्वात् प्रातिपादिकम् ।

५२ स्वौजसमौट् छष्टाभ्यां भिस्-ङे-भ्यां-भ्यस्-ङसि-भ्यां-भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप् ४ । १ । २ ।

सु, औ, जस्, इति प्रथमा । अम्, औट्, शस्, इति द्वितीया । टा, भ्यां, भिस्, इति तृतीया । ङे, भ्यां, भ्यस्, इति चतुर्थी । ङसि, भ्यां, भ्यस्, इति पञ्चमी । ङस्, ओस्, आम्, इति षष्ठी । ङि, ओस्, सुप्, इति सप्तमी ।

५३ ङ्याप्-प्रातिपादिकात् ४ । १ । १ ।

५४ प्रत्ययः ३ । १ । १ ।

५५ परश्च ३ । १ । २ ।

इत्यधिकृत्य । ङ्यन्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ।

अथ अजन्त-पुंलिंग

५०—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से भिन्न अर्थवान् शब्द स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

५१—कृदन्त, तद्धितान्त और समासान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

५२—५३—५४—५५ ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे स्वादि प्रत्यय होते हैं ।

५६ सुपः १।४।१०३।

सुपः त्रीणि त्रीणि वचनानि एकशः एकवचन-द्विवचन बहु-वचन-सञ्ज्ञानि स्युः।

५७ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२।

एकत्व-विवक्षायाम् एकवचनं, द्वित्व-विवक्षायां द्विवचनं स्यात्। राम + सु, अनुबन्ध-लोपे, रामस् –

५८ विरामोऽवसानम् १।४।११०।

वर्णानाम् अभावोऽवसान-सञ्ज्ञः स्यात्। रुत्व विसर्गौ। रामः। राम + औ—

५९ प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः ६।१।१०२।

अकः प्रथमा-द्वितीययोरचि पूर्व-सवर्ण दीर्घ एकादेशः स्यात्। इतिप्राप्ते—

६० नादिचि ६।१।१०४।

अवर्णाद् इचि परे न पूर्व-सवर्ण-दीर्घः। "वृद्धिरेचि" रामौ।

६१ बहुषु बहुवचनम् १।४।२१।

बहुत्व-विवक्षायां बहुवचनं स्यात्। राम + जस्।

---

५६ सुप् के तीन तीन वचन एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं।

५७ एकत्व की विवक्षा में एकवचन, और द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन होता है।

५८ वर्णों के अभाव को अवसान कहते हैं।

५९ अक् से प्रथमा-द्वितीया सम्बन्धी अच् परे हो तो पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है। यह सूत्र प्राप्त हुआ।

६० अवर्ण से इच् परे हो तो पूर्व सवर्ण दीर्घ नहीं होता।

६१ बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है

६२ चुटू । १ । ३ । ७ ।

प्रत्ययाद्यौ चवर्ग—टवर्गौ इतौ स्तः । जस्य इत्त्वे लोपः ।

६३ विभक्तिश्च १ । ४ । १०४ ।

सुप्-तिङौ विभक्ति-सञ्ज्ञौ स्तः ।

६४ न विभक्तौ तुस्माः १ । ४ । ४ ।

विभक्तिस्थाः तवर्ग-सकार मकारा इतो न स्युः । इति सस्य नेत्त्वम् । पूर्व-सवर्ण-दीर्घे रुत्व-विसर्गौ, रामाः ।

६५ एक-वचनं सम्बुद्धिः २ । ३ । ४९ ।

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धि -सञ्ज्ञं स्यात् ।

६६ यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ । ४ । १३ ।

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्द-स्वरूपं तस्मिन् प्रत्यये परेऽङ्गसञ्ज्ञं स्यात् ।

६७ एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ६ । १ । ६९ ।

एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्च अङ्गाद् हल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम !, हे रामौ !, हे रामाः !, । राम + अम् —

६८ अमि पूर्वः ६ । १ । १०७ ।

अकः अम्यचि परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ । राम + शस्—

---

६२ प्रत्यय के आदि चवर्ग-टवर्ग की इत् संज्ञा होती है ।

६३ सुप् और तिङ् की विभक्ति संज्ञा होती है ।

६४ विभक्तिस्थ तवर्ग-सकार-मकार की इत्संज्ञा नहीं होती ।

६५ सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं ।

६६ जो प्रत्यय जिससे किया जाय, तदादि शब्द स्वरूप की उस प्रत्यय के परे होने पर अंग संज्ञा होती है ।

६७ एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप होता है, यदि वह सम्बुद्धि का हो तो ।

६८ अक से अम् सम्बन्धि अच् परे हो तो पूर्वरूप एकादेश होता है ।

६९ ल-श-कतद्धिते १ । ३ । ८ ।

तद्धित-वर्ज प्रत्ययाऽऽद्या ल-श-कवर्गा इत्सञ्ज्ञकाः स्युः । शस्य इत्त्वे लोपे पूर्वसवर्ण दीर्घे च ।

७० तस्माच्छसो नः पुंसि ६ । १ । १०३ ।

पूर्व-सवर्ण-दीर्घात् परो यः शसः सः तस्य नः स्यात् पुंसि । इति शस्य नः ।

७१ अट्-कुप्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि ८ । ४ । २ ।

अट् , कवर्गः, पवर्गः, आङ्, नुम् , एतैर्व्यस्तैः यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि र-षाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समान-पदे। इति प्राप्ते ।

७२ पदान्तस्य २ । ४ । ३७ ।

पदान्तस्य नस्य णो न स्यात् । रामान् ।

७३ टा-ङसि-ङसामिनाऽत्स्याः ७ । १ । १२ ।

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः । अर्थात्—'टा' इत्यस्य 'इन' 'ङसि' इत्यस्य 'आत्', 'ङस्' इत्यस्य 'स्य' इति । राम + (टा) इन । गुणे णत्वम् । रामेण ।

७४ सुपि च ७ । ३ । १०२ ।

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् राम + भिस्-

---

६९ तद्धित प्रत्यय को छोड़कर प्रत्यय के आदि ल-श कवर्ग की इत् संज्ञा होती है ।

७० पूर्व-सवर्ण दीर्घ से परे शस् के स् को न् होता है ।

७१ अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इनका अलग अलग या जितनों का सम्भव हो उतनों के व्यवधान में भी रेफ षकार से परे न् को ण् होता है समानपद में ।

७२ पदान्त नकार को णकार नहीं होता ।

७३ अदन्त अंग से परे टादियों को इनादि आदेश होते हैं ।

७४ यञादि सुप् परे हो तो अदन्त अंग को दीर्घ होता है ।

७५ अतो भिस ऐस् ७ । १ । १३ ।

अदन्ताद् अङ्गात् भिस् ऐस् स्यात् ।

७५ ॥ अलोऽन्त्यस्य १ । १ । ५२ ॥

षष्ठी निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् ।

७६ अनेकाल् शित् सर्वस्य १ । १ । ५५ ।

अनेकाल् शित् च आदेशः सर्वस्य स्थाने स्यात् । वृद्धिः, । रामैः ।

७७ ङेर्यः ७ । १ । ९ ।

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः स्यात् ।

७८ स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ १ । १ । ५६ ।

आदेशः स्थानिवत् स्यात्० नतु स्थान्यलाश्रयविधौ । इति स्थानिवत्त्वात् "सुपि च" इति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् ।

७९ बहुवचने झल्येत् ७ । १ । १०३ ।

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्य एकारः स्यात् । रामेभ्यः ।

८० वाऽवसाने ८ । ४ । ५६ ।

अवसाने झलां चरो वा । रामात्—रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य । राम + ओस्,

८१ ओसि च ७ । ३ । १०४ ।

अतोऽङ्गस्य एकारः स्याद् ओसि परे । अय् । रामयोः । राम + आम्

---

७५ अदन्त अंग से परे भिस् को ऐस् आदेश होता है ।

७५ ॥ षष्ठी निर्दिष्ट के अन्त्य अल् को आदेश होता है ।

७६ अनेकाल् तथा शित् आदेश सारे के स्थान में होता है ।

७७ अदन्त अंग से परे ङे को य आदेश होता है ।

७८ आदेश स्थानिवत् होता है परन्तु स्थानी सम्बन्धी जो अल , तदाश्रयविधि कर्तव्य हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता ।

७९ झलादि बहुवचन सुप् परे हो तो अदन्त अंग को एकार होता है ।

८० अवसान (अन्त) में झलों को चर् विकल्प से होते हैं ।

८१ ओस् परे हो तो अदन्त अंग को एकार होता है ।

८२ ह्रस्व-नद्यापो नुट् ७ । १ । ५४ ।

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाऽङ्गात् परस्य आमो नुडागमः स्यात् ।

८३ नामि ६ । ४ । ३ ।

अजन्ताऽङ्गस्य दीर्घः स्याद् नामि परे । णत्वं, रामाणाम् । राम + (ङि) इ, गुणः रामे । रामयोः । राम + सु, एत्वे कृते—

८४ आदेश-प्रत्यययोः २ । ३ । ५९ ।

इण्-कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य षकारादेशः स्यात् । रामेषु । एवम्-कृष्णादयोऽपि अदन्ताः ।

८५ सर्वादीनि सर्वनामानि १ । १ । २७ ।

सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम । पूर्व पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, । त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् । (इति सर्वादयः)

८६ जसः शी ७ । १ । १७ ।

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । सर्वे ।

८७ सर्वनाम्नः स्मै ७ । १ । १४ ।

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै । सर्वस्मै ।

---

८२ ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अंग से परे आम् को नुट् का आगम होता है ।

८३ नाम् परे हो तो अजन्तांग को दीर्घ होता है ।

८४ इण् कवर्ग से परे अपदान्त आदेशरूप और प्रत्ययावयव सकार को षकार होता है ।

८५ सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा होती है ।

८६ अदन्त सर्वनाम से परे जस् को 'शी' आदेश होता है ।

८७ अदन्त सर्वनाम से परे ङे को 'स्मै' आदेश होता है ।

८८ ङसि—ङ्योः स्मात्—स्मिनौ ७ । १ । १५ ।

अतः सर्वनाम्नः एतयो रेतौ स्तः । सर्वस्मात् ।

८९ आमि सर्वनाम्नः सुट् ७ । १ । ५२ ।

अवर्णान्तात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । हरिः । पूर्व—सवर्णदीर्घः, हरी ।

९० जसि च ७ । ३ । १०९ ।

ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः स्यात् जशि । गुणे अय्, हरयः ।

९१ ह्रस्वस्य गुणः ७ । ३ । १०८ ।

ह्रस्वान्ताऽङ्गस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । हे हरे । हारम् । हरी । हरीन् ।

९२ शेषो घ्यसखि १ । ४ । ७ ।

शेष इति स्पष्टार्थम् । ह्रस्वौ यौ इदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घि-सञ्ज्ञं स्यात् ।

९३ आङो नाऽस्त्रियाम् ७ । ३ । १२० ।

घेः पर स्याऽऽङो ना स्याद् अस्त्रियाम् । आङिति—टा संज्ञा हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः ।

---

८८ अदन्त सर्वनाम से परे ङसि-ङि को क्रमशः स्मात्-स्मिन् आदेश होते हैं।

८९ अवर्णान्त से परे सर्वनाम से विहित आम् को सुट् का आगम होता है।

९० जश् परे हो तो ह्रस्वान्त अंग को गुण होता है।

९१ ह्रस्वान्त अंग को गुण होता है सम्बुद्धि परे हो तो।

९२ सखि-शब्द को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द की घि—संज्ञा होती है।

९३ घि-संज्ञक से परे आङ् (टा) को 'ना' आदेश होता है। स्त्रीलिंग में नहीं।

९४ घेर्ङिति ७। ३। १११।

घि-संज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः। हरये।

९५ ङसि-ङसोश्च ६। १। ११०।

एङो ङसि ङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

९६ अच्च घेः ७। ३। ११९।

इद्-उद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरच्च। वृद्धिः, हरौ। हर्योः हरिषु। एवम्—कव्यादयः।

त्रि-शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २।

९७ त्रेस्त्रयः ७। १। ५३।

त्रि-शब्दस्य त्रयाऽऽदेशःस्याद् आमि। त्रयाणाम्। त्रिषु।

९८ सुडनपुंसकस्य १। १। ४३।

स्वादि पञ्चवचनानि सर्वनामस्थान-संज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

९९ त्यदादीनामः ७। २। १०२।

एषामकारो विभक्तौ।

द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २।

---

९४ घि-संज्ञक को गुण होता है ङित् सुप् परे हो तो।

९५ एङ् से ङसि-ङस् का अकार परे हो तो पूर्वरूप एकादेश होता है।

९६ ह्रस्व इकार और उकार से ङि को 'औ' आदेश होता है और घि को अकार अन्तादेश होता है।

९७ त्रि-शब्द को 'त्रय' आदेश होता है आम् परे हो तो।

९८ स्वादि पांच वचनों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है नपुंसकलिंग में नहीं।

९९ विभक्ति परे होने पर त्यदादियों को अकार अन्तादेश होता है।

भानुः, हरिवत्।

१— भानुः, भानू, भानवः	५—भानोः, भानुभ्याम्, भानुभ्यः
२—भानुम्, भानू, भानून्	६—भानोः, भान्वोः, भानूनाम्।
३— भानुना, भानुभ्याम्, भानुभिः	७—भानौ, भान्वोः, भानुषु।
४— भानवे, भानुभ्याम्, भानुभ्यः।	(सं०) हे भानो!, शेषं प्रथमावत्।

ऋकारान्तो धातृ-शब्दः—

१०० ऋतो ङि-सर्वनाम-स्थानयोः ७। ३। १२०॥

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

१०१ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४।

ऋदन्तानाम् उशनसादीनाञ्च अनङ् स्याद् असम्बुद्धौ सौ। इत्यनङ्।

१०२ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सु-ति-स्यपृक्तं हल् ६।१।६८।

हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते।

१०३ न-लोपःप्रातिपदिकान्तस्य ८। २। ७।

प्रातिपदिकसञ्ज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात्। इति नस्य लोपः,।

१०४ अप्तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ६। ४। ११।

अावादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। धाता, धातारौ, धातारः। धातारम्, धातारौ, धातॄन्। धात्रा। धात्रे। धातृ+ङसि।

---

१०० ऋदन्त अंग को गुण होता है ङि और सर्वनाम स्थान परे हो तो।

१०१ ऋदन्त और उशनसादियों को 'अनङ्' होता है सम्बुद्धिभिन्न सु परे हो तो।

१०२ हलन्त से परे दीर्घ ङीवन्त और आबन्त से परे सु-ति-सि के अपृक्त हल् का लोप होता है।

१०३ प्रतिपदिक संज्ञक पद के अन्त में स्थित नकार का लोप होता है।

१०४ अबादियोंकी उपधाको दीर्घ होता है असम्बुद्धि सर्वनामस्थान परे हो तो।

१०५ ऋत उत् ६ । १ । १११ ।

ऋतो ङसि-ङसोरत उद् एकादेशः । रपरः । धातुर्स् ।

१०६ रात्सस्य ८ । २ । २४ ।

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नाऽन्यस्य । रेफस्य विसर्गः । धातुः । (ऋवर्णाद् नस्य णत्वं वाच्यम्)धातॄणाम् । धातरि धात्रोः, धातृषु । हे धातः ? ।

एवम्—नप्त्रादयः । नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् तेनेह न- पिता, अनङि सुलोपो—

१०७ सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ६ । ४ । ८ ।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यद् असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

गुणे, पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ,शेषं धातृवत् एवं-जामात्रादयः । ओकारान्तो गो-शब्दः—

१०८ गोतो णित् ७ । १ । ९० ।

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् ।

१०९ अचो ञ्णिति । ७ । १ । ९० ।

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्याद् ञिति णिति च परे । गौः, गावौ गावः ।

---

१०५ ऋत् और ङसि-ङस् के अकार (दोनों) को 'उत्' एकादेश होता है ।

१०६ रेफ से परे यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो दूसरे किसी वर्ण का नहीं । (ऋवर्ण से परे न को ण् होता है) ।

१०७ सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नान्त की उपधा को दीर्घ होता है ।

१०८ ओकारान्त से विहित सर्वनामस्थान णिद्वत् होता है ।

११० ओतोऽम्-शसोः ६ । १ । ९३ ।

ओतोऽम्-शसोरचि आकार एकादेशः स्यात् । गाम्, गावौ, गाः । गवा, गोभ्याम्, गोभिः । गवे, गोभ्याम्, गोभ्यः । गोः २, गवोः, गवाम् । गवि, गवोः, गोषु ।

इत्यजन्ताः पुल्लिङ्गाः

अथ अजन्ताःस्त्रीलिङ्गाः ।

रमा । रमा + औ,

१११ औङ आपः ७ । १ । १८ ।

आबन्ताद् अङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । अनुबन्ध-लोपे, गुणः, रमे, पूर्वसवर्ण-दीर्घे, रमाः ।

११२ सम्बुद्धौ च ७ । ३ । १०६ ।

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । "एङ्ह्रस्वाद्" इति सम्बुद्धि लोपः । हे रमे । हे रमे ! रमाः ! । रमाम्, रमे, रमा + शस्, "प्रथमयोः" इति पूर्वसवर्णदीर्घः, रमाः ।

११३ आङि चाऽऽपः ७ । ३ । १०५ ।

आङि ओसि च आप एकारः स्यात् । अयादेशः, रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः ।

---

११० ओकार से अम्-शस् का अकार परे हो तो पूर्व पर को आकार एकादेश होता है ।

इति अजन्ताः पुल्लिंगाः

—:※:—

अथ अजन्त-स्त्रीलिङ्गाः ।

१११ आबन्त अंग से परे औङ् को 'शी' होता है ।

११२ आबन्त को एकार होता है सम्बुद्धि परे हो तो ।

११३ आङ् और ओस् परे हो तो आबन्त को एकार होता है ।

११४ याडापः ७ । ३ । ११३ ।

आपो ङितो याट् । "वृद्धिरेचि इति वृद्धिः, रमायै । रमाभ्याम् ३ । रमाभ्यः २ । रमायाः २ । रमयोः २ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गादयः ।

११५ सर्वनाम्नः स्याड् ह्रस्वश्च ७ । ३ । ११४ ।

आवन्तात् सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्वः। वृद्धिरेचि । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं-विश्वादय आवन्ताः । मतिः, मती, मतयः । मतिम्, मती, शसि-मतीः । मत्या, मतिभ्याम्. मतिभिः ।

११६ ङितिह्रस्वश्च १ । ४ । ६ ।

इयङ्-उवङ् स्थानौ स्त्रीशब्द-भिन्नौ नित्य स्त्रीलिङ्गौ ईदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदी-सञ्ज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै-मतये। मत्याः २ मतेः २ ।

११७ इदुद्भ्याम् ७ । ३ । ११७ ।

इद्-उद्भ्यां नदी-सञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम् । मत्याम्-मतौ। शेषं-हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः

११८ त्रि-चतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ ७ । २ । ९९ ।

स्त्री-लिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ।

---

११४ आवन्त से परे ङित् वचनों को 'याट्' का आगम होता है।

११५ आवन्त सर्वनाम से ङित्वचनों को 'स्याट्' का आगम होता है। और आप् को ह्रस्व होता है।

११६ इयङ् उवङ् स्थानी, स्त्री शब्द से भिन्न नित्यस्त्रीलिंगवाची दीर्घ ईकार ऊकार तथा ह्रस्व इकार उकार की नदीसंज्ञा विकल्प से होती है, ङित् वचन परे होने पर स्त्रीलिंग में।

११७ नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार उकार से परे ङि को आम् होता है।

११८ स्त्रीलिंगवाची त्रि और चतुर शब्द को क्रम से तिसृ-चतसृ आदेश होते हैं।

११९ अचि र ऋतः ७ । २ । १०० ।

तिसृ-चतसृ एतयो ऋकारस्य रेफादेशः स्याद् अचि । गुण-दीर्घोत्वानामपवादः । त्रि+(जस्) अस्, ऋकारस्य रेफादेशः । तिस्रः । तिस्रः । तिसृभिः । तिसृभ्यः २ । आमि नुट्,

१२० न तिसृ-चतसृ ६ । ४ । ४ ।

एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वि-शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । "त्यदादीनामः" टाप्, द्वा+औ. "औङ आपः" इत्यौकारस्य शीत्वे गुणः । द्वे २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । सुलोपः, गौरी, गौर्यौ, गौर्यः ।

१२१ अम्बार्थ-नद्योर्ह्रस्वः ७ । ३ । १०७ ।

अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात् सम्बुद्धौ । हे गौरि ! । गौरीम्, गौर्यौ, गौरीः । गौर्या, गौरीभ्याम् । गौर्यै, गौरीभ्यः । गौर्याः २, गौर्योः २, गौरीणाम् । गौर्याम्, गौरीषु । एवम्—नद्यादयः । लक्ष्मीः, अङ्यन्तत्वाद् न सुलोपः । शेषं गौरीवत् । सुलोपः, स्त्री । हे स्त्रि !, नद्यन्तत्वात्—ह्रस्वः ।

१२२ स्त्रियाः ६ । ४ । ७९ ।

स्त्री शब्दस्य इयङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ, स्त्रियः ।

१२३ वाऽम्-शसोः ६ । ४ । ८० ।

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् । स्त्रियम्-स्त्रीम् ।

---

११९ तिसृ और चतसृ के ऋकार को रेफादेश होता है—अच् परे हो तो । यह गुण, दीर्घ तथा उत्व का अपवाद है ।

१२० नाम परे हो तो तिसृ-चतसृ को दीर्घ नहीं होता ।

१२१ अम्बार्थक और नद्यन्त को ह्रस्व होता है सम्बुद्धि परे हो तो ।

१२२ स्त्री शब्द को इयङ् होता है अजादि प्रत्यय परे हो तो ।

१२३ अम्-शस् परे हो तो स्त्री शब्द को विकल्प से इयङ् होता है ।

इति अजन्ताः स्त्रीलिंगाः ।

स्त्रियः—स्त्रीः। स्त्रिया—स्त्रियै। स्त्रियाः २। परत्वाद् नुट्, स्त्रीणाम्। स्त्रीषु। धेनुः, मतिवत्।

१—धेनुः धेनू, धेनवः	५—धेन्वाः-धेनोः, धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः
२—धेनुम्, ,, धेनूः	६— ,, धेन्वोः, धेनूनाम्।
३-धेन्वा, धेनुभ्याम् धेनुभिः।	७—धेन्वाम्-धेनौ, ,, धेनुषु।
४-धेन्वै } ,, धेनुभ्यः धेनवे }	(सं०) हे धेनो! शेषं प्रथमावत्।

माता पितृवत्। शसि-मातृः। द्यौर्गौवत्।

इत्यजन्ताः स्त्री-लिङ्गाः॥

अथाऽजन्त-नपुंसक-लिङ्गाः।

१२४ अतोऽम् ७। १। २४।

अतोऽङ्गात् क्लीवात् स्वमोः अम् स्यात्। "अमि पूर्वः" ज्ञानम्। "एङ् ह्रस्वादि" ति सुलोपः। हे ज्ञान!

१२५ नपुंसकाच्च ७। १। १९।

क्लीवाद् औङः शी स्यात्। अनुबन्धलोपे गुणः। ज्ञाने। ज्ञान + जस्,

१२६ जश्शसोः शिः ७। १। २०।

क्लीवाद् अनयोः शिः स्यात्।

१२७ शि सर्वनामस्थानम् १। १। ४२।

शि सर्वनामस्थान—संज्ञं स्यात्।

अथ अजन्त-नपुंसक-लिंगाः।

१२४ अदन्त क्लीब से परे सु और अम् को 'अम्' होता है।

१२५ अदन्त क्लीब से परे औङ् को 'शी' होता है।

१२६ अदन्त क्लीब से परे जस्–शस् को 'शि' होता है।

१२७ 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।

१२८ नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२।

झलन्तस्य अजन्तस्य च क्लीवस्य नुम स्यात् सर्वनामस्थाने।

१२९ मिदचोऽन्त्यात् परः १।१।४७।

अचां मध्ये योऽन्त्यः तस्मात्परः तस्यैव अन्तावयवो मित् स्यात्। 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ'' इति उपधा दीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत ' शेषं पुंवत्। एवं धन—वन—फलादयः।

त्यदाद्यत्वे शीत्वे गुणः, द्वे २। शेषं पुंवत्।

१३० स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३।

लुक् स्यात्। लुक्=लोपः। वारि।

१३१ इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३।

इगन्तस्य नुम् स्याद् अचि विभक्तौ। वारिणी। उपधादीर्घ, वारीणि। गुणे, हे वारे! आङो ना, वारिणा। घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते (वृद्ध्यौत्व-तृज्व-द्भाव-गुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन) वारिणे। वारिणः २। वारिणो २। नुमं बाधित्वा नुट्, वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

अथ हलन्ताः पुँलिङ्गाः।

१३२ चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८।

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे। यण्, चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः २।

---

१२८ झलन्त और अजन्त क्लीबको नुम् होता है सर्वनाम स्थान परे हो तो।

१२९ अचों के मध्य में अन्त्य अच् से परे और उसी का अन्तावयव मित् होता है।

१३० सु और अम् का लुक् (लोप) होता है नपुंसकलिंग में।

१३१ इगन्त को नुम् होता है अजादि विभक्तियों में।

इति अजन्त—नपुँसकलिंगाः।

अथ हलन्ताः पुँल्लिङ्गाः।

१३२ चतुर और अनडुह को आम होता है सर्वनामस्थान परे हो तो।

१३३ षट्-चतुर्भ्यश्च ७ । १ । ५५ ।

एभ्य आमो नुडागमः स्यात् ।

१३४ र-षाभ्यां नो णः समानपदे ८ । ४ । १ ।

चतुर्णाम् ।

१३५ रोः सुपि ८ । ३ । १६ ।

रोरेव विसर्गः सुपि । षत्वम् । चतुर्षु ।

१३६ किमः कः ७ । २ । १०३ ।

किमः कः स्यात् विभक्तौ । कः । कौ । सर्वनामत्वात् "जसः शी" ततो गुणः, के । सर्ववत् ।

१३७ इदमो मः ७ । २ । १०८ ।

सौ परे । त्यदाद्यत्वाऽपवादः ।

१३८ इदोऽय् पुंसि ७ । २ । १११ ।

इदम इदोऽय् सौ पुंसि । इदम् + सु, सुलोपः, इदः अय्, अयम् । इदम् + औ त्यदाद्यत्वे ।

१३९ अतो गुणे ६ । १ । ९७ ।

अपदान्ताद् अतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात् । वृद्धिः । (इदौ)

---

१३३ षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम होता है ।

१३४ र् और ष् से परे न् को ण् होता है समानपद में ।

१३५ रु के रेफ को ही विसर्ग होता है सुप परे होने पर ।

१३६ किम् शब्द को 'क' आदेश होता है विभक्ति परे होने पर ।

१३७ इदम् को 'म्' होता है सु परे होने पर ।

१३८ इदम् के इद् भाग को 'अय्' होता है सु परे हो तो पुँल्लिग में ।

१३९ अपदान्त अत् से गुण परे हो तो पररूप एकादेश होता है ।

१४० दश्च ७ । २ । १०९ ।

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ । इमौ । सर्वनामत्वात् जशः शी, गुणः । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति इत्युत्सर्गः ।

१४१ अनाप्यकः ७ । २ । ११२ ।

ककार-रहितस्य इदम्-शब्दस्य इद्भागस्य अन स्यात् आपि विभक्तौ । (टा) आ इत्यारभ्य सुपः पकार-पर्यन्तम् 'आप् प्रत्याहारः । इदम् + टा तदाद्यत्व पररूपञ्च, अनादेशः, इनः, गुणः । अनेन ।

१४२ हलि लोपः ७ । २ । ११३ ।

ककार-रहितस्य इदम्-शब्दस्य इद्भागस्य लोपः स्यात् आपि हलादौ विभक्तौ । सुपि चेति दीर्घः । आभ्याम् ।

१४३ नेदमदसोरकोः ७ । १ । ११ ।

ककार-रहितयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वम् । एभिः । अस्मै । एभ्यः । अस्मात् । अस्य । अनयोः २ । एषाम् । अस्मिन्, एषु । पञ्चन्-शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।

१४४ ष्णान्ताःषट् १ । १ । २४ ।

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्-सञ्ज्ञा स्यात् ।

१४५ षड्भ्यो लुक् ७ । १ । २२ ।

षट् सञ्ज्ञकेभ्यः जश्शसोर्लुक् स्यात् । पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः २ । नुट्, पञ्चन् + नाम् ,

---

१४० इदम् के द् को म् होता है विभक्ति परे हो तो ।

१४१ ककार सहित इदम् शब्द के इद् भाग को 'अन्' होता है । आप् विभक्ति परे होने पर । टा के आकार से लेकर सुप् के पकार तक आप् प्रत्याहार होता है ।

१४२ ककार रहित इदम्-शब्द के इद् भाग का लोप होता है हलादि विभक्ति परे हो तो ।

१४३ ककार रहित इदम् और अदस्-शब्द के भिस को ऐस नहीं होता ।

१४४ षट्संज्ञकों से परे जस्-शस् का लुक् होता है ।

१४५ नान्त की उपधा को दीर्घ होता है नाम् परे हो तो ।

१४६ नोपधायाः ६ । ४ । ७ ।

नान्तस्य उपधाया दीर्घः स्याद् नामि । नस्य लोपः, पञ्चानाम् । पञ्चसु । तत्+सु, त्यदाद्यत्वे पररूपत्वम् ।

१४७ तदोः सः सावनन्त्ययोः ७ । २ । १०६ ।

त्यदादीनां तकार-दकारयोः अनन्त्ययोः सः स्यात् सौ । सः तौ, ते । यत्-शब्दस्य, यः, यौ, ये । एतत्-शब्दस्य एषः, एतौ, एते शेषं सर्ववत् ।

१४८ ङे प्रथमयोरम् ७ । १ । २८ ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः ।

१४९ त्वाहौ सौ ७ । २ । ९४ ।

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः ।

१५० शेषे लोपः ७ । २ । ९० ।

एतयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् ।

१५१ युवावौ द्विवचने ७ । २ । ९२ ।

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

---

१४६ षान्त और नान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा होती है ।

१४७ त्यदादियों के तकार दकार को—जो अन्त में नहीं—सकार होता है सु परे होने पर ।

१४८ युष्मद्-अस्मद् शब्द से 'ङे' को और प्रथमा-द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है ।

१४९ युष्म्-अस्म् भाग को 'त्व' 'अह' आदेश होते हैं सु परे हो तो ।

१५० आत्व-यत्व के निमित्त से भिन्न विभक्ति परे हो तो युष्मत्-अस्मत् की 'टि' का लोप होता है ।

१५१ युष्म्-अस्म् भाग को युव, अव, आदेश होते हैं दो की उक्ति में विभक्ति परे हो तो ।

१५२ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७ । २ । ८८ ।

औङ्ये तयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।

१५३ यूय-वयौ जसि ७ । २ । ९३ ।

अनयोर्मपर्यन्तस्य । यूयम् । वयम् ।

१५४ त्वमावेकवचने ७ । २ । ९७ ।

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

१५५ द्वितीयायां च ७ । २ । ८७ ।

अनयोरात्स्यात् । त्वाम् । माम् ।

१५६ शसो नः ७ । १ । २९ ।

आभ्यां शसो नः स्यादमोऽपवादः । युष्मान् । अस्मान् ।

१५७ आदेः परस्य १ । १ । ५४ ।

परस्य यद् विहितं तत् तस्य आदे र्बोध्यम् ।

१५८ संयोगान्तस्य लोपः ८ । २ । २३ ।

संयोगान्तं यत् पदं तदन्तस्य लोपः स्यात् ।

---

१५२ युष्मद्-अस्मद् को आकार होता है प्रथमा और द्वितीया का द्विवचन परे हो तो, लोक में ।

१५३ युष्म्—अस्म् भाग को यूय वय आदेश होते हैं जस् परे हो तो ।

१५४ एकत्व की उक्ति में युष्म् अस्म् भाग को त्व म आदेश होते हैं विभक्ति परे हो तो ।

१५५ युष्मद्-अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है द्वितीया विभक्ति परे हो तो ।

१५६ युष्मद्-अस्मद् से परे शस् को 'न्' आदेश होता है ।

१५७ परले को जो आदेश कहा गया हो वह उसके आदि को होता है ।

१५८ संयोगान्त पद के अन्त का लोप होता हो ।

१५९ योऽचि ७ । २ । ८९ ।

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ।

१६० युष्मदस्मदोरनादेशे ७ । २ । ८६ ।

अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

१६१ तुभ्य-मह्यौ ङयि ७ । २ । ९५ ।

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

१६२ भ्यसोऽभ्यम् ७ । १ । ३० ।

आभ्यां परस्य । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

१६३ एकवचनस्य च ७ । १ । ३२ ।

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ।

१६४ पञ्चम्या अत् ७ । १ । ३१ ।

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् ।

१६५ तव-ममौ ङसि ७ । २ । ९६ ।

अनयोर्मपर्यन्तस्य तव-ममौ स्तो ङसि ।

१६६ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७ । २ । ९७ ।

तव । मम । युवयोः । आवयोः ।

---

१५९ युष्मद्-अस्मद् को यकार आदेश होता है अनादेश अजादि विभक्ति परे हो तो ।

१६० युष्मद्-अस्मद् को आकार आदेश होता है अनादेश हलादि विभक्ति परे हो तो ।

१६१ युष्म्-अस्म् भाग को तुभ्य मह्य आदेश होते हैं ङे परे हो तो ।

१६२ युष्मद्-अस्मद् से परे भ्यस् को 'अभ्यम्' आदेश होता है ।

१६३ युष्मद्-अस्मद् से ङसि को 'अत्' होता है ।

१६४ युष्मद्-अस्मद् से परे पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' होता है ।

१६५ युष्म्-अस्म् को तव-मम आदेश होते हैं, ङस् परे हो तो ।

१६६ युष्मद्-अस्मद् से परे ङस् को अश् होता है ।

१६७ साम आकम् ७ । १ । ३३ ।

आभ्यां परस्य साम आकं स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

इति हलन्ताः पुँल्लिङ्गाः ॥

—:—०—:—

अथ हलन्ताः स्त्री--लिङ्गाः ।

चतस्रः । चतसृणाम् । चतसृषु । "किमः कः" कादेशे स्त्रियां टाप् "हल्ङ्याब्भ्यो…" इति सु लोपः । का, के, काः । शेषं सर्वावत् ।

१६८ यः सौ ७ । २ । ११० ।

इदमो दस्य यः स्यात् सौ परे । इयम् । त्यदाद्यत्वम्, पररूपम्, टाप्, दस्य मः, औङः शी, गुणः । इमे । इमाः । इमाम् । अनया । हलि लोपः. आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः । अनयोः २ । आसु । त्यदाद्यत्वं, टाप्, तदोरिति सः । सा, ते, ताः । एवम्—एषा (तदोरिति सः), एते, एताः । शेषं सर्वावत् ।

इति हलन्ताः स्त्री-लिङ्गाः ॥

—०—

---

१६७ युष्मद्-अस्मद् से परे सुट् सहित आम् को 'आकम्' आदेश होता है ।

इति हलन्ताः पुँल्लिङ्गाः ।

अथ हलन्ताः स्त्री-लिङ्गाः ।

१६८ इदम् के द को य होता है सु परे हो तो ।

इति हलन्ताः स्त्री-लिंगाः ।

अथ हलन्ता नपुंसक-लिङ्गाः ।

चतुर + (जस्) शि, 'चतुरनडुहोः........" इत्याम्, यण् चत्वारि २। चतुर्भ्यः २। चतुर्णाम्। चतुर्षु। विभक्तेरभावात् ककादेशः, किम्, के, कानि। शेषं पुंवत्। इदम्, इमे, इमानि। शेषं पुंवत्।

स्वमोर्लुक् "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नस्य लोपः। दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि। दण्डिना, दण्डिभ्याम्, दण्डिभिः दण्डिने। दण्डिनः २। दण्डिनोः। दण्डिनाम्। दण्डिषु। हे दण्डिन्। तत्, ते, तानि। यत्, ये, यानि। शेषं पुंवत्। पयः, पयसी, पयांसि। पयसा, पयोभ्याम्। पयोभिः पयसे। पयोभ्याम्। पयोभ्यः। पयसः पयसोः, पयसाम्। पयसि, पयसोः, पयस्सु।

इति हलन्त-नपुंसक-लिङ्गाः।

——:o:——

अथाऽव्यय-प्रकरणम्।

१६९ स्वरादि-निपातमव्ययम् १। १। ३७।

स्वरादयो निपाताश्च अव्यय-सञ्ज्ञाः स्युः।

१-स्वर्, २-अन्तर्, ३-प्रातर्, ४-पुनर्, ५-उच्चैस्, ६-नीचैस्, ७-शनैस्, ८-युगपत्, ९-पृथक्, १०-ह्यस्, ११-श्वस्, १२-सायम्, १३-चिरम्, १४-ईषत्, १५-तूष्णीम् १६-वहिस्, १७-स्वयम्, १८-वृथा, १९-नक्तम्, २०-न, २१-वत् (ब्राह्मणवत्) २२-तिरस्, २३-अन्तरेण, २४-शम्, २५-सहसा, २६-विना, २७-नाना, २८-स्वस्ति, २९-अलम्,

---

अथ अव्यय

१६६ स्वरादि और निपातों की अव्यय संज्ञा होती है।

स्वर्=स्वर्ग, अन्तर्=बीच, प्रातर्=प्रातःकाल, पुनर्=फिर, उच्चैस्=ऊँचा, नीचैस्=नीचा, शनैस्=धीरे, युगपत्=एकदम, पृथक्=अलग, ह्यस्=बीता हुआ (कल), श्वस्=आने वाला (कल), सायम्=सायंकाल, चिरम्=देर, ईषत्=थोड़ा, तूष्णीम्=चुप, बहिस्=बाहर, स्वयम्=अपने आप, वृथा=व्यर्थ, नक्तम्=रात, न=नहीं, वत्=समान, (ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण के समान), तिरस्=टेढ़ा या तिरस्कार,

३०-३१-मृषा,-मिथ्या, ३२-मुधा, ३३-पुरा, ३४-मिथस्, ३५-प्रायस्, ३६-मुहुस् ३७-३८-साकम्, सार्धम्, ३९-नमस्, ४०-मा, इति स्वरादयः (आकृतिगणोऽयम्)। अथातश्चादयोऽन्यानि चाऽव्ययानि। (च वा ह इत्यादश्चादयः) ४१-एवम्, ४२-एव, ४३-नूनम्, ४४-भूयस्, ४५-चेत्, ४६-यावत्, ४७-तावत्, ४८-तथाहि, ४९-सुष्ठु, ५०-खलु, ५१-अकस्मात्, ५२-अग्रतः, ५३-अतः, ५४-अति, ५५-अत्र, ५६-अद्य ५७-अधुना, ५८-अन्यत्र, ५९-अपि, ६०-अवश्यम्, ६१-सकृत्, ६२-असकृत्, ६३ आदि, ६४ इतः, ६५-इदानीम्, ६६-इह, ६७-इव, ६८-उपरि, ६९-एकदा, ७०-कथम्, ७१-कदा, ७२-किम्, ७३-किञ्चित्, ७४-कुतः, ७५-कुत्र, ७६,-च, ७७-ततः, ७८-तत्र, ७९-तथा, ८०-तदा, ८१-नित्यम्, ८२-पश्चात्, ८३-पुनः, ८४-अभितस्, ८५-प्रायेण, ८६-यतः, ८७-यत्र, ८८-यथा, ८९-यदा, ९०-वरम्, ९१-शीघ्रम्, ९२-सदा, ९३-सद्यः, ९४-सम्प्रति, ९५-साम्प्रतम्, ९६-सम्यक्, ९७-सहसा, ९८-सत्यम्, ९९-समन्ततः १००-सह, १०१-अथ

अन्तरेण=बिना, शम्=कल्याणं (सुख) सहसा=एकदम, विना=बिना, नाना=अनेक, स्वस्ति=कल्याण, अलम्=बस, समर्थ, मृषा=मिथ्या=झूठ, मुधा=व्यर्थ, पुरा=पहले समय, मिथस् आपस में, प्रायस्=अक्सर, मुहुस्=बार बार, साकम्=सार्धम्=साथ; नमस=नमस्कार, मा=मत, एवम्=ऐसे, एव=नहीं, नूनम्=निश्चय, भूयस्=फिर और बहुत, चेत्=यदि यावत् जितना, तावत्=उतना, तथाहि=जैसे कि:—, सुष्ठु=ठीक, खलु=निश्चय, अकस्मात्=अचानक, अग्रतः=आगे से, अतः=इसलिये, अति=अधिक, अत्र=यहां, अद्य=आज, अधुना=अब, अन्यत्र=दूसरी जगह, अपि=भी, अवश्यम्=जरूर, सकृत्=एक बार, असकृत्=बार बार, आदि=आरम्भ, (वगैरह), इतः=यहां से, इदानीम्=अब, इह=यहाँ, इव=तरह, उपरि=ऊपर, एकदा=एकसमय, कथम्=कैसे, क्यों?, कदा=कब, किम्=क्या, क्यों, किञ्चत्=कुछ, कुतः=कहां से, कुत्र=कहां, च=और, ततः=उसके बाद, तथा=वैसे, तदा=तब, नित्यम्=सदा, पश्चात्=पीछे, पुनः=फिर, अभितः=दोनों ओर से, प्रायेण=प्रायः, यतः=क्योंकि, यत्र=जहां, यथा=जैसे, यदा=जब, वरम्=श्रेष्ठ (सुन्दर), शीघ्रम्=जल्दी, सदा=नित्य, सद्य=शीघ्र, सम्प्रति=अब, साम्प्रतम्=अब, सम्यक्=ठीक, सहसा=अचानक, सत्यम्=सच, समन्ततः=चारों ओर, सह=साथ, अथ=मंगल और आरम्भ।

अव्यय—लक्षणम्

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।

इत्यव्ययानि।

अथ विभक्त्यर्थाः।

१७० प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा २।३।४६

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे--उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे--तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे--द्रोणो व्रीहिः। वचनं=संख्या। एकः। द्वौ। बहवः।

१७१ सम्बोधने च २।३।४७।

प्रथमा स्यात्। हे राम!

१७२ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

अव्यय का लक्षण—

जिन शब्दों के तीनों लिंगों, सातों विभक्तियों, और तीनों वचनों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उन्हें अव्यय कहते हैं।

इति अव्यय।

अथ विभक्त्यर्थाः (कारकाणि)

१७० प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिंग मात्राधिक्य में, परिमाण मात्र में और संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

१७१ सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

१७२ कर्ता को क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिये इष्टतम कारक की कर्म सञ्ज्ञा होती है।

१७३ कर्मणि द्वितीया २ । ३ । २ ।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति ।

१७४ स्वतन्त्रः कर्ता १ । ४ । ५४ ।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

१७५ साधकतमं करणम् १ । ४ । ४२ ।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ।

१७६ कर्तृकरणयोस्तृतीया २ । ३ । १८ ।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो वाली ।

१७७ कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १ । ४ । ३२ ।

दानस्य कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

१७८ चतुर्थी सम्प्रदाने २ । ३ । १३ ।

विप्राय गां ददाति ।

१७९ नमः स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषट्योगाच्च २। ३। १६।

एभिर्योगे चतुर्थी । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ।

---

१७३ अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

१७४ क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित अर्थ की कर्तृ—सञ्ज्ञा होती है ।

१७५ क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक की करण संज्ञा होती है ।

१७६ अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है ।

१७७ दा धातु के कर्म से कर्ता जिसे सम्बन्धित करना चाहे उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

१७८ सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

१७९ नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं और वषट् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

१८० ध्रुवमपायेऽपादानम् १ । ४ । २४ ।

अपायो=विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवम् अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात् ।

१८१ अपादाने पञ्चमी २ । ३ । २८ ।

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात् पततीत्यादि ।

१८२ षष्ठी शेषे २ । ३ । ५० ।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः ।

१८३ आधारोऽधिकरणम् १ । ४ । ४५ ।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात् ।

१८४ सप्तम्यधिकरणे च २ । ३ । ३६ ।

अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छाऽस्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा ॥ इति विभक्त्यर्थाः ॥

---

१८० जहां अपाय (विश्लेष) साध्य हो; वहां ध्रुव (अवधिभूत) कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

१८१ अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

१८२ कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव, (जन्यजनक भावादि) के सम्बन्ध में षष्ठी होती है ।

१८३ कर्तृ कर्म द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधार की अधिकरण संज्ञा होती है ।

१८४ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है तथा दूर अन्तिक अर्थ वाले शब्दों से ।

इति कारक-प्रकरणम् ।

अथ समास--प्रकरणम् ।

समसनं समासः । तत्र १ प्रायेणोत्तर-पदार्थ-प्रधानः तत्पुरुषः । (तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः) । २ प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । ३ प्रायेणोभयपदार्थ-प्रधानो द्वन्द्वः ।

१८५ प्राक्कडारात्समासः २ । १ । ३ ।

अधिकारोऽयम् ।

१८६ तत्पुरुषः २ । १ । २२ ।

अधिकारोऽयं प्राग्व बहुव्रीहेः ।

१८७ द्वितीया श्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः२।१।२४।

द्वितीयान्तं श्रितादिभिः सुबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः—(कृष्ण अम् श्रित सु) कृष्णश्रितः । इत्यादि ।

१८७ ॥ सुपोधातु-प्रादिकयोः २ । ४ । ७१ ।

एतयोरवयवस्य सुपोलुक् । अमोलुक् ।

१८८ कर्तृ-करणे कृता बहुलम् २ । १ । ३२ ।

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं समस्यते । हरिणा त्रातो–हरित्रातः । नखैर्भिन्नः—नखभिन्नः ।

अथ समासेषु तत्पुरुषः

अनेक पदों का एक पद रूप हो जाना समास कहलाता है । प्रायः उत्तर पदार्थप्रधान तत्पुरुष होता है । (तत्पुरुष का ही भेद कर्म-धारय है) बहुव्रीहि प्रायः अन्यपदार्थप्रधान-होता है । द्वन्द्व में प्रायः सभी पदार्थ प्रधान होते हैं ।

१८५ 'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्र से पहले पहले 'समास' शब्द का अधिकार जाता है ।

१८६ बहुव्रीहि से पहले पहले 'तत्पुरुष' का अधिकार जाता है ।

१८७ श्रितादि सुबन्तों के साथ द्वितीयान्त का समास विकल्प से होता है, और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है ।

१८७॥ धातु और प्रातिपदिक के अवयव का सुप् का लुक् होता है ।

१८८ कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति का कृदन्त के साथ बहुलता से समास होता है ।

१८९ चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः २।१।३६
चतुर्थ्यन्तं तदर्थार्थादिभिर्वा समस्यते। यूपाय दारु-यूपदारु द्विजार्थः सूपः। भूतबलिः गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

१९० पञ्चमी भयेन २।१।३७।
चोराद् भयं—चोरभयम्।

१९१ षष्ठी २।२।३७।
षष्ठ्यन्तं सुबन्तेन समस्यते। राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः। सूर्यस्य उदयः—सूर्योदयः। क्षत्रियस्य बलं-क्षत्रियबलम्।

१९२ सप्तमी शौण्डैः २।१।४०।
सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः समस्यते। अक्षेषु शौण्डः-अक्षशौण्डः।

१९३ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः २।१।५८।
समान-विभक्त्यन्तपद—विषयकः तत्पुरुषः कर्मधारय—सञ्ज्ञः स्यात्।

१९४ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।४।१७।
विशेषणं समानाधिकरणेन विशेष्येण बहुलं समस्यते। नीलम् उत्-पलम्-नीलोत्पलम्। शुक्ल पटः-शुक्लपटः।

इति तत्पुरुषः।

---

१८९ चतुर्थ्यन्त का तदर्थादियों के साथ विकल्प से समास होता है।
१९० पञ्चम्यन्त का भय शब्द के साथ विकल्प से समास होता है।
१९१ षष्ठ्यन्त का सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है।
१९२ सप्तम्यन्त (शब्द) शौण्डादि-गण-पठित शब्दों के साथ विकल्प से समस्त होता है।
१९३ समान (एक) विभक्त्यन्त पदों का समास 'कर्मधारय' कहलाता है।
१९४ एकाधिकरणक विशेष्य के साथ विशेषण का बहुलता से समास होता है।

इति तत्पुरुषः।

अथ बहुव्रीहिः

१९५ शेषो बहुव्रीहिः २ । २ । २३ ।

अधिकारोऽयं प्राग् द्वन्द्वात् ।

१९६ अनेकमन्यपदार्थे २ । २ । २४ ।

अनेकं प्रथमान्तम् अन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । पीतानि अम्बराणि यस्य स पीताम्बरः । पठिता विद्या येन स पठितविद्यः ।

१९७ निष्ठा २ । २ । ३६ ।

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । योगो युक्तो येन स युक्तयोगः ।

इति बहुव्रीहिः

अथ द्वन्द्वः

१९८ चार्थे द्वन्द्वः २ । २ । २९ ।

अनेकं सुबन्तम् इतरेतरयोगरूपे चार्थे वर्तमानं वा समस्यते स द्वन्द्वः । मिलितानाम् अन्वयः=इतरेतरयोगः । रामश्च लक्ष्मणश्च—राम लक्ष्मणौ (गच्छतः) ।

अथ बहुव्रीहिः

१९५ द्वन्द्व समास से पूर्व पूर्व 'बहुव्रीहि' का अधिकार जायगा ।

१९६ अन्य पदार्थ के अर्थ में वर्तमान, अनेक प्रथमान्त सुबन्तों का विकल्प से समास होता है । वह बहुव्रीहि कहलाता है ।

१९७ बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त (क्त-क्तवतु प्रत्ययान्त) का पूर्व प्रयोग होता है ।

इति बहुव्रीहिः ।

अथ द्वन्द्वः

१९८ 'इतरेतरयोग' रूप चकारार्थ में वर्तमान सुबन्त का विकल्प से समास होता है । उसे 'द्वन्द्व' जानना ।

१९९ द्वन्द्वे घि २ । २ । ३२ ।

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिहरौ ।

२०० अजाद्यदन्तम् २ । २ । ३३ ।

अजादि—अकारान्तं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ ।

२०१ अल्पाच्तरम् २ । २ । ३४ ।

अल्पाच्कं द्वन्द्वे पूर्वम्। शिवकेशवौ ।

२०२ परवल्लिङ्गं द्वन्द्व—तत्पुरुषयोः २ । २ । २६ ।

द्वन्द्वे तत्पुरुषे च परस्य इव लिङ्गं स्यात् । मयूरी-कुक्कुटौ इमौ । कुक्कुट-मयूर्यौ-इमे । तत्पुरुषे यथा—चोरभयम् ।

२०३ पिता मात्रा १ । २ । ७० ।

मात्रासहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च—पितरौ, मातापितरौ वा । इति द्वन्द्वः ।

इति समास—प्रकरणम् ॥

—०—

अथ तद्धिताः प्रत्ययाः ।

२०३A समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ ।

इदं पदत्रयम् अधिक्रियते ।

---

१९९ द्वन्द्व समास में घिसंज्ञक शब्द का पूर्व प्रयोग होता है ।
२०० अजादि अकारान्त का द्वन्द्व में प्रयोग होता है ।
२०१ अल्पाच्क शब्द का द्वन्द्व में पूर्व प्रयोग होता है ।
२०२ द्वन्द्व और तत्पुरुष में परपद के समान लिंग होता है ।
२०३ माता के साथ उक्ति में पिता शेष रहता है विकल्प से ।

इति द्वन्द्वप्रकरण ।

—:※:—

अथ तद्धिताः प्रत्ययाः

२०३A इन तीनों पदोंका आगे अधिकार चलता है ।

२०३B तस्यापत्यम् ४ । १ । ९२ ।

षष्ठयन्तात्कृतसन्धेः समर्थाद् अपत्येऽर्थे प्रत्ययाः स्युः ।

२०३C अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४ । १ । १६२ ॥

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादिगोत्रसंज्ञं स्यात् ।

२०३D गर्गादिभ्योयञ् ४ । १ । १०५ ॥

गोत्रापत्ये ।

२०३E तद्धितेष्वचामादेः । ७ । २ । ११७ ।

ञिति णिति च तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः ।

२०३F यस्येति च ६ । ४ । १४८ ॥

इकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः । (सुपोलुक्) ।

२०३G तस्येदम् ४ । ३ । १२० ॥

इन्द्रस्येदम् ऐन्द्रम् । अण प्रत्ययः ।

२०४ पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ४ । २ । ३६ ।

एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता-पितृव्यः । मातुर्भ्राता-मातुलः । मातुः पिता-मातामहः । पितुः पिता-पितामहः । "पितुर्भ्रातरि व्यत्"

२०३B कृत सन्ध्यादि कार्य समर्थ षष्ठयन्त से अपत्य अर्थ में प्रत्यय होते हैं ।

२०३C अपत्यत्वेन विवक्षित पौत्रादि की गोत्र संज्ञा होतीहै ।

२०३D गर्गादि गण पठित शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है ।

२०३E ञित् और णित् तद्धित परे रहते आदि अच् को वृद्धि होती है ।

२०३F इकार और तद्धित परे रहते भ संज्ञक इ वर्ण अवर्ण का लोप होता है ।

२०३G षष्ठयन्त से इदम् अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

२०४ पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह ये शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।

पितृव्यः। "मातुः" (भ्रातरि) डुलच्" 'मातुलः'। "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इति डामहच्, डिति टिलोपः, मातामहः, पितामहः।

२०५ ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३।

तलन्तं स्त्रियाम्। ग्रामता। जनता। बन्धुता।

२०६ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ४।३।१।

चाच्छः। पक्षेऽण्।

२०७ आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२।

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय्, स्यात्। युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः। अस्मदीयः।

२०८ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२।

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि, अणि च। आदिवृद्धिः यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

२०९ तवक-ममकावेकवचने ४।३।३।

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवक-ममकौ स्तः खञि, अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः।

२१० मध्यान्मः ४।३।८।

मध्यमः।

---

२०५ ग्राम-जन-बन्धु शब्दों से समूह अर्थ में 'तल्' प्रत्यय होता है।

२०६ युष्मद् और अस्मद् शब्दों से 'खञ' और 'छ' प्रत्यय होता है, तथा पक्ष में अण् भी।

२०७ प्रत्यय के आदि फ को आयन्, ढ को एय्, ख को ईन्, छ को ईय् और घ को इय् होता है।

२०८ युष्मद्-अस्मद् शब्द को 'युष्माक' 'अस्माक' आदेश होते हैं, 'खञ्' और 'अण्' परे हो तो।

२०९ एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् को 'तवक' 'ममक' होते हैं, 'खञ्' और अण् परे हो तो।

२१० मध्य शब्द से जातादि अर्थों में 'म' प्रत्यय होता है।

२११ तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५ । १ । ११५ ।

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवद् अधीते । क्रिया चेदिति किम्—गुणतुल्ये मा भूत्, पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

२१२ तत्र तस्येव ५ । १ । ११६ ।

मथुरायामिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव—चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।

२१३ तस्य भावस्त्वतलौ ५ । १ । ११९ ।

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गोर्भावो—गोत्वम्, गोता । त्वान्तं क्लीबम् ।

२१४ यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५ । २ । ३९ ।

यत् परिमाणमस्य—यावान् । तावान् । एतावान् ।

२१५ किमिदम्भ्यां वो घः ५ । २ । ४० ।

आभ्यां वतुप्, वकारस्य घश्च । वस्य घ, घस्य इय् ।

२१६ इदं-किमोरीश्-की ६ । ३ । ९० ।

दृग्दृशवतुषु इदम ईश्, किमः किः । "यस्येति च" इति ईकारलोप, इयान् । कियान् ।

२१७ तस्य पूरणे डट् ५ । २ । ४८ ।

एकादशानां पूरणः—एकादशः ।

---

२११ तुल्यार्थ में 'वति' प्रत्यय होता है, तुल्यार्थ यदि क्रिया हो ।

२१२ सप्तम्यन्त और षष्ठयन्त से इव अर्थ में 'वति' होती है ।

२१३ भाव अर्थ में 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होते हैं । प्रकृतिजन्य बोध में प्रकारी भूत को भाव कहते हैं ।

२१४ यत्, तत्, एतत् शब्दों से परिमाण अर्थ में 'वतुप्' प्रत्यय होता है ।

२१५ किम्, इदम्–शब्द से 'वतुप्' होता और 'व' को 'घ' होता है ।

२१६ दृग् दृश-वतु प्रत्यय परे हो तो इदम् को ईश् होता है ।

२१७ पूरण अर्थ में 'डट्' प्रत्यय होता है ।

२१८ नान्तादसंख्यादेर्मट् ५ । २ ४९ ।

डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः । असंख्यादेः किम् एकादशः ।

२१९ ति विंशतेर्डिति ६ । ४ । १४२ ।

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे । विंशः ।

२२० षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुक् ५ । २ । ५१ ।

एषां थुगागमः स्याड्डटि । षण्णां पूरणः—षष्ठः । कतिथः कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकाड्डट् । कतिपयथः। चतुर्थः

२२१ द्वेस्तीयः ५ । २ । ५४ ।

डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणे—द्वितीयः ।

२२२ इग्यणः सम्प्रसारणम् १ । १ । ४५ ।

यणः स्थाने प्रयुज्यमान इक् सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् ।

२२३ सम्प्रसारणाच्च ६ । १ । १०८ ।

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् ।

२२४ त्रेः संप्रसारणं च ५ । २ । ५५ ।

तीयप्रत्यये, रेफस्य ऋ, इकारस्य पूर्वरूपम् , तृतीयः ।

---

२१८ नान्त संख्यावाची शब्द से डट् को मट् का आगम होता है। संख्यादि शब्द को छोड़ कर ।

२१९ भ-संज्ञक विंशति शब्दकी 'ति' का लोप होता है डित् परे हो तो ।

२२० षट्-कति-कतिपय-चतुर् शब्दों को थुक् का आगम होता है ।

२२१ द्वि-शब्द से पूरणार्थ में 'तीय' प्रत्यय होता है ।

२२२ यणों के स्थान में प्रयुज्यमान इक् को सम्प्रसारण कहते हैं ।

२२३ सम्प्रसारण से अच् परे हो तो पूर्वरूप एकादेश होता है ।

२२४ त्रि शब्द से 'तीय' प्रत्यय होता है पूरणार्थ में, और त्रि को सम्प्रसारण भी ।

२२५ प्राग्दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ ।

दिक्शब्देभ्य इत्यतः प्राग् वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसञ्ज्ञाः स्युः ।

२२६ पञ्चम्यास्तसिल् ५ । ३ । ७ ।

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा स्यात् । किम् ङसि + तस्, सुपो धातुप्रातिपदिकयोरिति सुपो लुक् ।

२२७ कु तिहोः ७ । २ । १०४ ।

किमः कुः स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ परतः । कुतः=कस्मात् ।

२२८ इदम इश् ५ । ३ । ३ ।

इदम्-शब्दस्य इश आदेशः स्यात् । शित्त्वात् सर्वादेशः । इतः ।

२२९ अन् ५ । ३ । ५ ।

'एतद्' शब्दस्य 'अन्' आदेशः स्यात् । प्राग्दिशीये, प्राग्दिशोऽधिकारः । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति" नकारलोपः, अतः । अमुतः । यतः । बहुतः ।

२३० पर्यभिभ्यां च ५ । ३ । ९ ।

आभ्यां तसिल् स्यात् । परितः=सर्वत इत्यर्थः । अभितः= उभयत इत्यर्थः ।

२३१ सप्तम्यास्त्रल् ५ । ३ । १० ।

कुत्र, सुपो लुकि किम् + त्र, इत्यत्र "कुति होः" इति 'कु' आदेशः । यत्र । तत्र । यत्र तत्र इत्यादौ विभक्तित्वात् "त्यदादीनामः" । बहुत्र ।

---

२२५ "दिक्-शब्देभ्यः" से पूर्व वक्ष्यमाण प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा होती है।
२२६ पञ्चम्यन्त किमादियों में 'तसिल्' प्रत्यय होता है।
२२७ किम् को 'कु' होता है, तादि, हादि विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय परे हो तो ।
२२८ इदम् को 'इश्' आदेश होता है; प्राग्दिशीय विभक्ति परे हो तो।
२२९ एतत् को 'अन्' आदेश होता है प्राग्दिशीय विभक्ति परे हो तो।
२३० परि और अभि शब्दों से 'तसिल्' प्रत्यय होता है ।
२३१ सप्तम्यन्त से 'त्रल्' प्रत्यय होता है।

२३२ इदमो हः ५ । ३ । ११ ।

त्रलोऽपवादः । "इदम इश्" इति इश्, शित्वात् सर्वादेशः । इह

२३३ किमोऽत् ५ । ३ । १२ ।

वा-ग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात्किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल्

२३४ क्वाति ७ । २ । १०५ ।

किमः क्वादेशः स्यादति । क्व, कुत्र ।

२३५ सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५ । ३ । १५ ।

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ।

२३६ सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५ । ३ । ६ ।

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात् । सर्वस्मिन् काले इ सदा, सर्वदा । अन्यदा । 'दा' प्रत्ययस्य विभक्तित्वात् "किमः कः" कदा । यदा । तदा । काले किम्—सर्वत्र देशे ।

२३७ इदमो र्हिल् ५ । ३ । ४ ।

सप्तम्यन्तात् । काले इत्येव ।

२३८ एतेतौ रथोः ५ । ३ । ४ ।

इदम्शब्दस्य एत इत् इत्यादेशौ स्तः क्रमेण; रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे । अस्मिन्काले—एतर्हि । काले इत्येव ।

---

२३२ इदम् शब्द से 'ह' प्रत्यय होता है त्रल् परे हो तो ।

२३३ सप्तम्यन्त किम्-शब्द से 'अत्' प्रत्यय होता है विकल्प से ।

२३४ किम्-शब्द को 'क्व' आदेश होता है 'अत्' परे हो तो ।

२३५ सप्तम्यन्त कालार्थक सर्व-एक-अन्य आदि शब्दों से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय होता है ।

२३६ सर्व-शब्द को विकल्प से 'स' आदेश होता है दादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो ।

२३७ सप्तम्यन्त इदम्-शब्द से 'र्हिल्' प्रत्यय होता है ।

२३८ इदम्-शब्द को 'एत' और 'इत्' आदेश होते हैं क्रमशः, रेफादि थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो ।

२३९ अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५ । ३ । २१ ।

कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

२४० एतदः ५ । ३ । ५ ।

एत इत् एतौ स्तः क्रमेण; रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन्काले-एतर्हि ।

२४१ प्रकारवचने थाल् ५ । ३ । २३ ।

प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे । "त्यदादीनामः" येन प्रकारेण-यथा । तेन प्रकारेण-तथा ।

२४२ इदमस्थमुः ५ । ३ । २४ ।

थालोऽपवादः । (एतदोऽपि वाच्यः), इदम एतदश्च 'इत्' इत्यादेशः । अनेन एतेन वा प्रकारेण-इत्थम् ।

२४३ किमश्च ५ । ३ । २५ ।

केन प्रकारेण-कथम्, "किमः कः" ।

इति तद्धिताः प्रत्ययाः ।

अथ स्त्री--प्रत्यय--प्रकरणम् ।

२४४ स्त्रियाम् ४ । १ । ३ ।

अधिकारोऽयम् ।

---

२३९ किमादि से अनद्यतन में र्हिल् प्रत्यय होता है ।

२४० एतत्-शब्द को 'एत' 'इत्' आदेश होते हैं रेफादि थकारादि प्राग्दिशीय विभक्ति परे हो तो ।

२४१ प्रकारार्थक किमादि-शब्दों से 'थाल्' प्रत्यय होता है स्वार्थ में ।

२४२ इदम्-शब्द से 'थमु' प्रत्यय होता है, यह 'थाल्' का अपवाद है । (वा.-एतद् से भी 'थमु' प्रत्यय होता है ।)

२४३ किम्-शब्द से प्रकारार्थ में 'थमु' प्रत्यय होता है ।

इति तद्धिताः प्रत्ययाः ।

अथ स्त्री-प्रत्ययाः ।

२४४ 'स्त्रियां' यह अधिकार है ।

२४५ अजाद्यतष्टाप् ४ । १ । ४ ।

अजादिभ्योऽकारान्तेभ्यश्च स्त्रीत्वे द्योत्ये टाप् स्यात् अजादयो यथा—अजा, एडका, अश्वा, चटका, मूषिका, बाला वत्सा, मन्दा, विलाता, मेधा। अकारान्तेभ्यो यथा--गङ्गा, सर्वा, रमा

२४६ उगितश्च ४ । १ । ६ ।

उगिदन्तात्प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । भवन्ती पचन्ती । दीव्यन्ती ।

२४७ टिड्-ढाऽणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ् क्वरपः ४ । १ । १५ ।

अनुपसर्जनं यट्टित् तदन्तं, ढादि-प्रत्ययान्तं च यदन् प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् । नदट्—नदी, देवट्-देवी कुरुचरी । ढादिप्रत्ययान्ताः यथा–सौपर्णेयी, ऐन्द्री, औत्सी, उरुद्व यसी, उरुदघ्नी, उरुमात्री, पञ्चतयी, आक्षिकी, लावणिकी, यादृशी इत्वरी ।

२४८ षिद्गौरादिभ्यश्च ४ । १ । ४१ ।

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीप् स्यात् । नर्तकी । गौरी ।

२४९ वयसि प्रथमे ४ । १ । २० ।

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रीयां ङीप् स्यात् । कुमारी ।

---

२४५ स्त्रीत्व द्योत्य हो तो अजादि-गण-पठित शब्दों से परे तथ अकारान्त शब्दों से परे 'टाप्' प्रत्यय होता है ।

२४६ उगिदन्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है, स्त्रीत्व द्योत्य हो तो

२४७ अनुपसर्जन जो टित् तदन्त प्रातिपदिक तथा ढ आदि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' होता है, स्त्रीत्व द्योत्य हो तो ।

२४८ षित्-प्रत्ययान्त और गौरादि–गण-पठित शब्दों से 'ङीप्' प्रत्य होता है ।

२४९ प्रथम वयोवाची अदन्त शब्द से 'ङीप्' होता है, स्त्रीत्व द्योत्य तो ।

२५० द्विगोः ४ । १ । २१ ।

अदन्ताद् द्विगो ङीप् स्यात्। त्रिलोकी।

२५१ वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४ । १ । ३९ ।

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप् स्यात् नकारश्चान्तादेशः। एनी, एता। रोहिणी, रोहिता।

२५२ वोतो गुणवचनात् ४ । १ । ४५ ।

उकारान्ताद् गुणवाचिनो वा ङीप् स्यात्। मृद्वी, मृदुः।

२५३ पुँयोगादाख्यायाम् ४ । १ । ४८ ।

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यात्। गोपस्य स्त्री-गोपी। ब्राह्मणस्य स्त्री—ब्राह्मणी।

२५४ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४ । १ । ५ ।

असंयोगोपधम् उपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्ताददन्तात् स्त्रियां ङीष् वा स्यात्। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा।

२५५ जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४ । १ । ६३ ।

जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतम् अयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी।

---

२५० अदन्त द्विगु से 'ङीप्' होता है।

२५१ वर्णवाची अनुदात्तान्त जो तोपध, तदन्त अनुपसर्जन से ङीप् होता है, विकल्प से और तकार को नकार आदेश होता है।

२५२ उकारान्त गुणवाची से विकल्प से 'ङीप्' हो, स्त्रीत्व द्योत्य होने पर।

२५३ जो पुंवाचक शब्द पुंयोग से स्त्रीलिंग हो जाय, उससे 'ङीप्' होता है।

२५४ असंयोगोपध उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची, तदन्त अदन्त से 'ङीष्' होता है, स्त्रीत्व द्योत्य हो तो।

२५५ नित्य स्त्रीलिंग से भिन्न, अयोपध, जातिवाचक से 'ङीष्' होता है, स्त्रीत्व द्योत्य हो तो।

२५६ इतो मनुष्यजातेः ४ । १ । ६५ ।

मनुष्यजातिवाचकादिकारान्तात् स्त्रियां ङीष् स्यात्। दाक्षी।

२५७ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४ । १ । ७३ ।

शार्ङ्गरवादेरञन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। वैदी। (नृनरयोर्वृद्धिश्च) नारी।

२५८ यूनस्तिः ४ । १ । ७७ ।

युवन् शब्दात् स्त्रियां तिप्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

इति स्त्रीप्रत्ययाः।

(अथोत्तरार्द्धम्)

अथ तिङन्ते भ्वादयः।

२५९ धातोः ३ । १ । ९१ ।

इत्यधिकारः, आतृतीयाऽध्याय-समाप्तेः।

२६० भू-वादयो धातवः १ । ३ । १ ।

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-सञ्ज्ञाः स्युः।

लट्। लिट्। लुट्। लृट्। लेट्। लोट्। लङ्। लिङ्। लुङ्। लृङ्। एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः।

---

२५६ स्त्रीत्व द्योत्य हो तो मनुष्यजातिवाचक इकारान्त से 'ङीष्' होता है।

२५७ शार्ङ्गरवादि तथा अञन्त जातिवाचक से 'ङीन्' होता है।

(नृ और नर शब्द को वृद्धि भी होती है)

२५८ युवन् शब्द से स्त्रीत्व द्योत्य हो तो ति प्रत्यय होता है।

इति स्त्रीप्रत्यय प्रकरण।

२५९ 'धातोः' यह अधिकार है, तीसरे अध्याय की समाप्ति तक।

२६० क्रियावाची भू आदि धातुसञ्ज्ञक होते हैं।

२६१ लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९।

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च।

२६२ वर्तमाने लट् ३।२।१२३।

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्याल्लस्य नेत्त्वम्। १–भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते।

२६३ तिप्-तस्-झि-सिप्-थस्-थ-मिब्-वस्-मस्-ताऽऽतां-झ-थासाऽऽथां-ध्वमिड्-वहि-महिङ् ३।४।७८।

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः।

२६४ लः परस्मैपदम् १।४।९९।

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

२६५ तङानावात्मनेपदम् १।४।१००।

तङ्प्रत्याहारः शानच्कानचौ चात्मनेपदसंज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः।

२६६ अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।४।१२।

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्।

२६७ स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२।

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्कर्तृगामिनि क्रियाफले।

---

२६१ सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता में, अकर्मक धातुओं से भाव और करता में लकार होते हैं।

२६२ वर्तमानकालिक क्रियावृत्ति धातु से लट् लकार होता है।

२६३ लकार के स्थान में तिप् आदि अठारह आदेश होते हैं।

२६४ लकार के स्थान में होने वाले आदेशों की परस्मैपद संज्ञा होती है।

२६५ तङ् प्रत्याहार और शानच्-कानच् से आत्मनेपद संज्ञा होती है।

२६६ अनुदात्तेत् और ङित् धातु से आत्मनेपद होता है।

२६७ स्वरितेत् और ञित् धातु से कर्तृगामी कियाफल होने पर आत्मनेपद होता है।

२६८ शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् १ । ३ । ७८ ।

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात् ।

२६९ तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथम-मध्यमोत्तमाः १ । ४ । १०१

तिङ उभयोःपदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः स्युः ।

२७० तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः १ । ४ । १०२

लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि (वचनानि) प्रत्येक-मेकवचनादिसंज्ञानि स्युः ।

२७१ युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १ । ४ । १०५ ।

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि=(तिङा वाच्यं यत् कारकं कर्तृरूपं कर्मरूपं वा तद्वाचके) युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः

२७२ अस्मद्युत्तमः १ । ४ । १०७ ॥

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः ।

---

२६८ आत्मनेपद-निमित्त-हीन धातु से कर्ता में परस्मैपद होता है ।

२६९ तिङ् के आत्मनेपद और परस्मैपदसम्बन्धी तीन-तीन त्रिकों की क्रम से प्रथम, मध्यम, उत्तम संज्ञा होती है ।

२७० प्राप्त प्रथमादिसंज्ञक त्रिकों के तीन वचनों की क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा होती है ।

तिङ्

परस्मैपदम्				आत्मनेपदम्			
पुरुषः	ए०व०	द्वि०व०	ब०व०	पुरुषः	ए०व०	द्वि०व०	ब०व०
प्र०पु०	तिप्,	तस्,	झि	प्र०पु०	त,	आताम्,	झ
म०पु०	सिप्,	थस्,	थ	म०पु०	थास्,	आथाम्,	ध्वम्
उ०पु०	मिप्,	वस्,	मस्,	उ०पु०	इट्,	वहि,	महि(ङ्)

२७१ तिङ्वाच्य-कारकवाची युष्मद् शब्द के प्रयुज्यमान तथा अप्रयुज्यमान होने पर धातु से मध्यमपुरुष होता है ।

२७२ अस्मद्-शब्द के प्रयुज्यमान तथा अप्रयुज्यमान होने पर उत्तम पुरुष होता है ।

२७३ शेषे प्रथमः १ । ४ । १०८ ॥

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू ति, इति जाते ।

२७४ तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३ । ४ । ११३ ।

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः ।

२७५ कर्तरि शप् ३ । १ । ६८ ॥

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् । अयं विकरणो धातु-प्रत्यय-मध्यपाती ।

२७६ सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७ । ३ । ८४ ।

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः । अवादेशः । भवति । भवतः ।

२७७ झोऽन्तः ७ । १ । ३ ।

प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः । अतो गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथः ।

२७८ अतो दीर्घो यञि ७ । ३ । १०१ ।

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः ।

२७९ परोक्षे लिट् ३ । २ । ११५ ।

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिबादयः ।

---

२७३ मध्यम, उत्तम के अविषय में प्रथम पुरुष होता है ।

२७४ धात्वधिकार में पठित तिङ् और शित् की सार्वधातुक संज्ञा होती है ।

२७५ कर्ता अर्थक सार्वधातुक परे हो तो धातु से शप् होता है ।

२७६ सार्वधातुक और आर्धधातुक परे हो तो इगन्त अंग को गुण होता है ।

२७७ प्रत्ययावयव झ को अन्त आदेश होता है ।

२७८ अदन्त अंग को दीर्घ होता है यञादि सार्वधातुक परे हो तो ।

२७९ भूत अनद्यतन परोक्षार्थवृत्ति धातु से लिट् लकार होता है ।

२८० परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३ । ४ । ८२

लिटस्तिवादीनां नवानां णलादयः स्युः । तिपो णल, तस् अतुस्, झेः उस्, सिपः थल्, थसः अथुस्, थस्य अ मिपो णल्, वस् व, मसः म । भू अ, इति स्थिते ।

२८१ भुवो वुग् लुङ्-लिटोः ६ । ४ । ८८ ।

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि ।

२८२ लिटि धातोरनभ्यासस्य ६ । १ । ८ ।

लिटि परे अनभ्य सध त्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । वुक्सहितस्य भुवो द्वित्वम् भूव् भूव् अ, इति स्थिते ।

२८३ पूर्वोऽभ्यासः ६ । १ । ४ ।

अत्र ये द्वे विहिते तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् ।

२८४ हलादिः शेषः ७ । ४ । ६० ।

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः ।

२८५ ह्रस्वः ७ । ४ । ५९ ।

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात् ।

---

२८० लिट् के स्थान में तिप् आदि नौ को णल् आदि नौ आदेश होते हैं ।

२८१ भू-धातु को 'वुक्' का आगम होता है लुङ् और लिट् का अच् परे हो तो ।

२८२ अनभ्यास धातु के प्रथम अवयव एकाच् को द्वित्व होता है, आदि-भूत अच् से परे द्वितीय अवयव एकाच् को द्वित्व होता है ।

२८३ छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में पहले की अभ्यास संज्ञा होती है ।

२८४ अभ्यास का आदि हल शेष रहताहै अन्य हलों का लोप होता है ।

२८५ अभ्यास के अच् को ह्रस्व होता है ।

२८६ भवतेरः ७ । ४ । ७३ ।

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अः स्याल्लिटि ।

२८७ अभ्यासे चर्च ८ । ४ । ५४ ।

अभ्यासे झलां चरः स्युर्जशश्च । झलां जशः खयां चर इति विवेकः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

२८८ लिट् च ३ । ४ । ११५ ।

लिडादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः ।

२८९ आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७ । २ । ३५ ।

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । बभूविथ । बभूवथुः । बभूव । बभूव । बभूविव । बभूविम ।

२९० अनद्यतने लुट् ३ । ३ । १५ ।

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट् ।

२९१ स्यतासी लृ-लुटोः ३ । १ । ३३ ।

धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तो लृलुटोः परतः । शबाद्यपवादः । लृ इति लृङ्-लृटोर्ग्रहणम् ।

२९२ आर्धधातुकं शेषः ३ । ४ । ११४ ।

तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ।

---

२८६ भू-धातु के अभ्यास के उकार को अकार होता है लिट् परे हो तो ।

२८७ अभ्यास में झलों को जश और खयों को चर होता है ।

२८८ लिडादेश तिङ की आर्धधातुक संज्ञा होती है ।

२८९ वलादि आर्धधातुक को इट का आगम होता है ।

२९० अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में धातु से लुट होता है ।

२९१ धातु से स्य और तास् प्रत्यय होते है लृङ्-लृट और लुट परे होतो ।

२९२ तिङ् शित् से भिन्न धातु से विहित प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है ।

२९३ लुटः प्रथमस्य डारौरसः २ । ४ । ८५ ।

डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भविता ।

२९४ तासस्त्योर्लोपः ७ । ४ । ५० ।

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात्सादौ प्रत्यये परे ।

२९५ रि च ७ । ४ । ५१ ।

रादौ प्रत्यये तासेरस्तेश्च सस्य लोपः । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भवितास्थः । भवितास्थ । भवितास्मि भवितास्वः । भवितास्मः ।

२९६ लृट् शेषे च ३ । ३ । १३ ।

भविष्यदर्थाद्धातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायां सत्यामसत्यां वा । स्यः । इट् । भविष्यति । भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्यावः । भविष्यामः ।

२९७ लोट् च ३ । ३ । १६२ ॥

विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् ।

२९८ आशिषि लिङ् -लोटौ ३ । ३ । १७३ ।

२९९ एरुः ३ । ४ । ८६ ।

लोट इकारस्य उः । भवतु ।

---

२९३ लुट् के प्रथम पुरुष के तिप्, तस्, झि को क्रम से डा, रौ, रस् आदेश होते हैं ।

२९४ तास् और अस् के स का लोप होता है सादि प्रत्यय परे हो तो ।

२९५ तास् के स का लोप होता है रादि प्रत्यय परे हो तो ।

२९६ भविष्यत् अर्थ में धातु से लृट् होता है क्रियार्थक क्रिया के होने न होने पर ।

२९७ विध्यादि अर्थों में धातु से लोट् होता है ।

२९८ आशीर्वाद अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् लकार होते हैं ।

२९९ लोट् की इ को उ आदेश होता है ।

३०० तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम् ७ । १ । ३५ ।

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात्सर्वादेशः । भवतात् ।

३०१ लोटो लङ् वत् ३ । ४ । ८५ ।

लोटस्तामादयः सलोपश्च ।

३०२ तस्थस्थमिपां तांतंतामः ३ । ४ । १०१ ।

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः । भवताम् । भवन्तु ।

३०३ सेर्ह्यपिच्च ३ । ४ । ८७ ।

लोटः सेर्हिः सोऽपिच्च ।

३०४ अतो हेः ६ । ४ । १०५ ।

अतः परस्य हेर्लुक् । भव भवतात् । भवतम् । भवत ।

३०५ मेर्निः ३ । ४ । ८९ ।

लोटो मेर्निः स्यात् ।

३०६ आडुत्तमस्य पिच्च ३ । ४ । ९२ ।

लोडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च । हिन्योरुत्वं न इत्वोच्चारणसामर्थ्यात् ।

३०७ नित्यं ङितः ३ । ४ । ९९ ।

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः । अलोऽन्त्यस्येति सस्य लोपः । भवाव । भवाम ।

---

३०० आशीर्वाद अर्थ में तु और हि को तातङ् होता है विकल्प से ।

३०१ लोट् लकार में लङ् के समान कार्य होते हैं ।

३०२ ङित् सम्बन्धी तस्-थस्-थ-मिप् की क्रम से ताम्-तम्-त-अम् आदेश होते हैं ।

३०३ लोट्सम्बन्धी सि को हि होता है ।

३०४ अदन्त से परे हि का लुक् होता है ।

३०५ लोट् सम्बन्धी मि को नि आदेश होता है ।

३०६ लोट्सम्बन्धी उत्तमपुरुष को आट् का आगम होता है, वह पित् होता है ।

३०७ ङित् लकार सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुष का नित्य लोप होता है ।

३०८ अनद्यतने लङ् ३ । २ । १११ ।

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात् ।

३०९ लुङ् लङ् लृङ् क्ष्वडुदात्तः ६ । ४ । ७१ ।

एष्वङ्गस्याऽट् स्यात् ।

३१० इतश्च ३ । ४ । १०० ।

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तदन्तस्य लोपः । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम ।

३११ विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् ३ । ३ । १६१ ।

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ् ।

३१२ यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३ । ४ । १०३ ।

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो ङिच्च ।

३१३ लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७ । २ । ७९ ।

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः । इति प्राप्ते ।

३१४ अतो येयः ७ । २ । ८० ।

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय् । गुणः ।

---

३०८ अनद्यतन भूतार्थ वृत्ति धातु से लङ् लकार होता है ।

३०९ लुङ्, लङ्, लृङ्, परे होने पर अंग को अट् का आगम होता है, वह उदात्त होता है ।

३१० ङित् लकारसम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद के इकार का लोप होता है ।

३११ प्रेरणा, निमन्त्रण, आमन्त्रण, सत्कारपूर्वक व्यापार, संप्रश्न और प्रार्थना इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है ।

३१२ लिङ् सम्बन्धी परस्मैपद को यासुट् का आगम होता है, और वह उदात्त ङित् होता है ।

३१३ सार्वधातुक लिङ् के अन्त्य सकार का लोप होता है ।

३१४ अत् से परे सार्वधातुक के अवयव यास् को इय् होता है ।

३१५ लोपो व्योर्वलि ६ । १ । ६६ ।

भवेत् । भवेताम् ।

३१६ झेर्जुस् ३ । ४ । १०८ ।

लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ।

३१७ लिङाशिषि ३ । ४ । ११६ ।

आशिषि लिङस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

३१८ किदाशिषि ३ । ४ । १०४ ।

आशिषि लिङो यासुट् कित् ।

३१९ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८ । २ । २९ ।

पदान्ते झलि च यः संयोगः तदाद्योः स्कोर्लोपः ।

३२० क्ङिति च १ । १ । ५ ।

गित्किन्ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त । भूयासम् । भूयास्व । भूयास्म ।

३२१ लुङ् ३ । २ । ११० ।

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात् ।

---

३१५ यकार वकार का लोप होता है वल् परे हो तो।

३१६ लिङ् सम्बन्धी झि को जुस् होता है।

३१७ आशीर्वाद अर्थ में लिङ् स्थानिक तिङों की आर्धधातुक संज्ञा होती है।

३१८ आशीर्वाद अर्थ में लिङ् का यासुट् कित होता है।

३१९ पदान्त में और झल् परे होने पर संयोग के आदि सकार-ककार का लोप होता है।

३२० गित्, कित, ङित्निमित्तक इग्लक्षण गुण और वृद्धि नहीं होती।

३२१ भूतार्थक धातु से लुङ् लकार होता है।

३२२ च्लि लुङि ३ । १ । ४३ ।

शबाद्यपवादः ।

३२३ च्लेः सिच् ३ । १ । ४४ ।

इचावितौ ।

३२४ गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २ । ४।७७

एभ्यः सिचो लुक् स्यात् । गापाविहेणादेश-पिबती गृह्येते

३२५ भूसुवोस्तिङि ७ । ३ । ८८ ।

भू सू एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न । अभूत् । अभू- ताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् । अभूत । अभूवम् । अभूव अभूम ।

३२६ लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३ । ३ । ३ ।

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ् निमित्तं तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात् क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् अभविष्यन् । अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् अभविष्याव । अभविष्याम, वृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभवि- ष्यत् । इत्यादि ज्ञेयम् ।

गद व्यक्तायां वाचि ॥ २ ॥ गदति, गदतः, गदन्ति । गदसि गदथः, गदथ । गदामि, गदावः, गदामः ।

३२७ कुहोश्चुः ७ । ४ । ६२ ।

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः ।

---

३२२ धातु से च्लि होता है लुङ परे हो तो ।

३२३ च्लि को सिच् आदेश होता है ।

३२४ गा, स्था, घुसंज्ञक पा और भू धातु से परे सिच् का लुक् होता है

३२५ भू और सू धातु को सार्वधातुक तिङ् परे हो तो गुण नहीं होता

३२६ हेतु-हेतुमद्भावादि जो लिङ् के निमित्त, उन अर्थों में भविष्यत्- लिक क्रियावाची धातु से लृङ् लकार होता है क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो तो

३२७ अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग आदेश होता है ।

३२८ अत उपधायाः ७ । २ । ११६ ।

उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद । जगदतुः । जगदुः । जगदिथ । जगदथुः । जगद ।

३२९ णलुत्तमो वा ७ । १ । ९१ ।

उत्तमो णल् वा णित्स्यात्। जगाद, जगद। जगदिव। जगदिम। गदिता, गदितारौ, गदितारः। गदितासि, गदितास्थः, गदितास्थ। गदितास्मि, गदितास्वः, गदितास्मः। गदिष्यति, गदिष्यतः, गदिष्यन्ति। गदिष्यसि, गदिष्यथः, गदिष्यथ। गदिष्यामि, गदिष्यावः, गदिष्यामः। गदतु-गदतात्, गदताम्, गदन्तु। गदगदतात्, गदतम्, गदत। गदानि, गदाव, गदाम। अगदत्, अगदताम्, अगदन्। अगदः, अगदतम्, अगदत। अगदम्, अगदाव, अगदाम। गदेत्, गदेताम्, गदेयुः। गदेः, गदेतम्, गदेत। गदेयम्, गदेव, गदेम। गद्यात्, गद्यास्ताम्, गद्यासुः। गद्याः, गद्यास्तम्, गद्यास्त। गद्यासम्, गद्यास्व, गद्यास्म।

३२९॥ अस्ति सिचोऽपृक्ते ७ । ३ । ९६ ॥

विद्यमानात् सिचो ऽस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः।

३२९॥। इट ईटि ८ । २ । २८ ॥

इटः परस्य सस्य लोपः स्याद् ईटिपरे।

---

३२८ उपधा के अकार को वृद्धि होती है ञित्, णित् प्रत्यय परे हो तो।

३२९ उत्तम पुरुष का 'णल्' विकल्प से णित् होता है।

३२९॥ विद्यमान सिच् और अस्ति से परे अपृक्त हल् को ईटका आगम होता है।

३२९॥। इट्से परे स का लोप होता है ईट् परे रहते।

३३० अतो हलादेर्लघोः ७ । २ । ७ ।

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वेडादौ परस्मैपदे सिचि । अगादीत् । अगादिष्टाम् अगादिषुः । अगादीः, अगादिष्टम् अगादिष्ट अगादिषम्, अगादिष्व, अगादिष्म । वृद्ध्यभावे, अगदीत । अगदिष्यत्, अगदिष्यताम्, अगदिष्यन् । अगदिष्यः, अगदिष्यतम् अगदिष्यत । अगदिष्यम्, अगदिष्याव, अगदिष्याम

३३०॥ सिजभ्यस्त विदिभ्यश्च ३ । ४ । १०९ ॥

सिचोऽभ्यस्ताद् विदेश्च ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस् ।

एध वृद्धौ ॥ ३ ॥

३३१ टित आत्मनेपदानां टेरे ३ । ४ । ७९ ।

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।

३३२ आतो ङितः ७ । २ । ८१ ।

अतः परस्य ङितामाकारस्य इय् स्यात् । य लोपः । गुणः एधेते । एधन्ते ।

३३३ थासः से ३ । ४ । ८० ।

टितो लस्य थासः से स्यात् एधसे । एधेथे । एधध्वे । अतो गुणे । एधे । एधावहे । एधामहे ।

३३४ इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३ । १ । ३६ ।

ईजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम स्याल्लिटि ।

---

३३० हलादि लघु अकार को विकल्प से वृद्धि होती है इडादि परस्मैपद सिच् परे हो तो ।

३३०॥ सिच् अभ्यस्त तथा विद् से परे ङित्सम्बन्धि झि को जुस् होता है।

३३१ टित् लकारों की आत्मनेपद सम्बन्धी टि को 'एत्व' होता है ।

३३२ अकार से परे ङित् के 'आ' को 'इय्' होता है ।

३३३ टित् लकार के 'थास् को 'से' आदेश होता है ।

३३४ इजादि गुरुमान धातु से ... को छोड़कर 'आम्' होता है

३३५ आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य १ । ३ । ६३ ।

आम्प्रत्ययो यस्मादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम् ।

३३६ लिटस्तझयोरेशिरेच् ३ । ४ । ८१ ।

लिडादेशयोस्तझयोरेशिरेजेतौ स्तः । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे ।

३३६॥ एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७ । २ । १० ।

उपदेशे योधातु रेकाजनुदात्तश्च ततः परस्यार्धधातुकस्येण् न ।

३३७ इणः षीध्वं-लुङ्-लिटां धोऽङ्गात् ८ । ३ । ७८ ।

इण्णन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात् । एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे । एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास । एधिता । एधितारौ । एधितारः । एधितासे एधितासाथे ।

३३८ धि च ८ । २ । २५ ।

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः । एधिताध्वे ।

३३९ ह एति ७ । ४ । ५२ ।

तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे । एधिताहे । एधितास्वहे । एधितास्महे । एधिष्यते । एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यसे । एधिष्येथे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे । एधिष्यामहे ।

---

३३५ अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातुसे आम्प्रकृतिके तुल्य आत्मनेपद होता है।

३३६ लिट् के 'त' और 'झ' को क्रमशः 'एश्' इरेच् आदेश होते हैं।

३३६॥ उपदेश में जो धातु एकाच् और अनुदात्त है उससे परे आर्धधातुकको इट् नहीं होता ।

३३७ इणन्त अंग से परे षीध्वं लुङ् और लिट् के धकार को ढकार होता है ।

३३८ धादि प्रत्यय परे हो तो स का लोप होता है ।

३३९ तास् और अस्ति के स् को ह् होता है एकार परे हो तो ।

३४० आमेतः ३ । ४ । ९० ।

लोट एकारस्याम् स्यात् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् ।

३४१ सवाभ्यां वामौ ३ । ४ । ९१ ।

सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद्वामौ स्तः । एधस्व । एधेथाम् । एधध्वम् ।

३४२ एत ऐ ३ । ४ । ९३ ।

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । एधै । एधावहै । एधामहै ।

३४३ आडजादीनाम् ६ । ४ । ७२ ।

अजादेरङ्गस्याऽऽट् स्याद् लुङ्—लङ्-लृङ्क्षु ।

३४४ आटश्च ६ । १ । ९० ।

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः । ऐधेथाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि ।

३४५ लिङः सीयुट् ३ । ४ । १०२ ।

सलोपः । एधेत । एधेयाताम् ।

३४६ झस्य रन् ३ । ४ । १०५ ।

लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः । एधेयाथाम् । एधेध्वम् ।

---

३४० लोट की ए को 'आम्' होता है ।

३४१ 'स' और 'व' से परे लोट की एकार को क्रमशः 'व' और 'अम्' होते हैं ।

३४२ लोट के उत्तम पुरुष की एकार को ऐकार आदेश होता है ।

३४३ अजादि अंग को 'आट्' का आगम होता है लुङ्, लङ्, लृङ् परे हो तो ।

३४४ आट् से अच् परे हो तो वृद्धिरूप एकादेश होता है ।

३४५ लिङ् के तिप् आदि को 'सीयुट्' का आगम होता है ।

३४६ लिङ् के 'झ' को 'रन्' आदेश होता है ।

३४७ इटोऽत् ३ । ४ । १०६ ।

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात् । एधेय । एधेवहि । एधेमहि ।

३४८ सुट् तिथोः ३ । ४ । १०७ ।

लिङस्तथोः सुट् । यलोपः । आर्धधातुकत्वात् सलोपो न । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि । ऐधिष्ट । एधिषाताम् ।

३४९ आत्मनेपदेष्वनतः ७ । १ । ५ ।

अनकारात्परस्यात्मनेपदेषु झस्य अदित्यादेशः स्यात् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि । ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि ऐधिष्यामहि । इति भ्वादयः ।

२ अथादादयः ।

अद भक्षणे ॥ १ ॥

३५० अदिप्रभृतिभ्यः शपः २ । ४ । ७२ ।

लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थः । अद्मि । अद्वः । अद्मः ।

३५१ लिट्यन्यतरस्याम् २ । ४ । ४० ।

अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि । जघास ।

---

३४७ लिङ् स्थानिक 'इट्' को 'अत्' आदेश होता है ।

३४८ लिङ् सम्बन्धी तकार और थकार को सुट् का आगम होता है ।

३४९ अनकार से परे आत्मनेपद सम्बन्धी 'झ' को अत् आदेश होता है ।

३५० अदादि—गण—पठित धातुओं से परे शप् का लुक् होता है ।

३५१ अद् को 'घस्लृ' आदेश होता है विकल्प से लिट् परे हो तो ।

३५२ गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति नतु अङि।

३५३ शासि-वसि-घसीनां च ८।३।६०।

इण्कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। घस्य चर्त्वम्। ... संयोगे क्षः। जघसिथ। जक्षथुः। जक्ष। जघास, जघस। जक्षि... जक्षतुः। जक्षः। जक्षिम। आद। आदतुः। आदुः।

३५४ इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् ७।२।६६।

अद् ऋ व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ, आद... आद। आद, आदिव, आदिम। अत्ता, अत्तारौ, अत्तारः। अत्ता... अत्तास्थः, अत्तास्थ। अत्तास्मि, अत्तास्वः, अत्तास्मः। अत्स्य... अत्स्यतः, अत्स्यन्ति, अत्स्यसि, अत्स्यथः, अत्स्यथ। अत्स्या... अत्स्यावः, अत्स्यामः। अत्तु अत्तात्। अत्ताम्। अदन्तु।

३५५ हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१।

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि, अत्तात्। अत्तम्। अ... अदानि। अदाव।

३५६ अदः सर्वेषाम् ७।३।१००।

अदः परस्यापृक्त-सार्वधातुकस्य अट् स्यात्सर्वमतेन। आद... आत्ताम, आदन्। आदः, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आ... अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः। अद्याः, अद्यातम्, अद्यात। अद्या... अद्याव, अद्याम्। अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः। अद्याः, अद्या... स्तम्, अद्यास्त। अद्यासम्, अद्यास्व, अद्यास्म।

---

३५२ गम्—हन्—जन्— खन् और घस् की उपधा का लोप होता... अङ को छोड़ कर अदादि कित्—ङित् परे हो तो।

३५३ इण् कवर्ग से परे इनके स को ष होता है।

३५४ अद्—ऋ—व्येञ् इनसे परे थल् को नित्य इट् होता है।

३५५ हु और झलन्त धातुओं से परे 'हि' को 'धि' होता है।

३५६ अद से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् होता है, सब के मत से।

३५७ लुङ् सनोर्घस्लृ २ । ४ । ३७ ।

अदो घस्लृ स्याल्लुङि सनि च । अघसत् । अघसताम्, अघसन् । अघसः, अघसतम्, अघसत । अघसम्, अघसाव, अघसाम् । आत्स्यत्, आत्स्यताम्, आत्स्यन् । आत्स्यः, आत्स्यतम्, आत्स्यत । आत्स्यम्, आत्स्याव, आत्स्याम ।

३५७।। पुषादि द्युतादि लृदितः परस्मै पदेषु ३ । १ । ५५ ।

पुषादे द्युतादे लृदितश्च परस्य च्ले रङ् परस्मै पदेषु । अत्र लृदित्त्वादङ् ।

३५८ सार्वधातुकमपित् १ । २ । ४ ।

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत् स्यात् । अस भुवि ॥२॥ अस्ति ।

३५९ श्नसोरल्लोपः । ६ । ४ । १११ ।

श्नस्यास्तेश्चातो लोपः सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः ।

३६० अस्तेर्भूः २ । ४ । ५२ ।

आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु, स्तात्, स्ताम् । सन्तु ।

---

३५७ अद् को 'घस्लृ' आदेश होता है लुङ् और सन् परे हो तो ।

३५७।। पुषादि द्युतादि और लृदित् धातु से परे च्लिको अङ् होता है परस्मैपद में ।

३५८ पित्भिन्न सार्वधातुक ङित्वत् होता है ।

३५९ 'श्न' और 'अस्' के अकार का लोप होता है । सार्वधातुक कित-ङित् परे हो तो ।

३६० अस को 'भू' आदेश होता है आर्धधातुक की विवक्षा में

३६१ घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६ । ४ । ११९ ।

घोरस्तेश्च एत्वं स्यात् हौ परे अभ्यासलोपश्च । एत्वस्यासिद्धत्वाद्धेर्धिः । श्नसोरित्यल्लोपः । तातङ्पक्षे एत्वं न; परेण तातङ् बाधात्, एधि, स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव । असाम । लङि—"आ+अस्+त्" इत्यत्र "अस्तिसिचोऽपृक्ते" इति ईट् । आसीत् , आस्ताम् । आसन् । आसीः, आस्तम् , आस्त । आसम्, आस्व, आस्म । स्यात् । स्याताम् , स्युः, । स्याः , स्यातम्, स्यात स्याम् स्याव, स्याम् । भूयात् । अभूत् । अभविष्यत् । शीङ् स्वप्ने ।

३६२ शीङः सार्वधातुके गुणः ७ । ४ । २१ ।

क्ङिति चेत्यस्यापवादः । शेते । शयाते ।

३६३ शीङो रुट् ७ । १ । ७ ।

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुडागमः स्यात् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे । शये । शेवहे । शेमहे ।

३६४ असंयोगात् लिट् कित् १ । २ । ५ ।

असंयोगात् परोऽपित् लिट् कित् स्यात् । शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे, शिश्यिषे, शिश्याथे, शिश्यिध्वे, शिश्ये, शिश्यिवहे, शिश्यिमहे । शयिता । शयिष्यते । शेताम्, शयाताम्, शेरताम् । शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम् । शयै शयावहै, शयामहै । अशेत, अशयाताम्, अशेरत । अशेथाः, अशयाथाम्, अशेध्वम् । अशये, अशेवहि, अशेमहि । शयीत, शयीयाताम्, शयीरन् । शयीथाः, शयीयाथाम्, शयीध्वम् । शयीय, शयीवहि, शयीमहि । शयिषीष्ट, शयिषीयास्ताम्

---

३६१ हि परे होने पर घुसंज्ञक तथा अस् धातु को एकार होता है, और अभ्यास का लोप होता है ।

३६२ 'शीङ्' को गुण होता है सार्वधातुक परे हो तो ।

३६३ शीङ् से परे झ के अत् को रुट् का आगम होता है ।

३६४ असंयोग से परे पित्भिन्न लिट् कित् होता है ।

शयिषीरन् । शयिषीष्ठाः, शयिषीयास्थाम्, शयिषीध्वम् । शयिषीय, शयिषीवहि, शयिषीमहि । अशयिष्ट, अशयिषाताम्, अशयिषत । अशयिष्ठाः, अशयिषाथाम्, अशयिढ्वम् । अशयिषि, अशयिष्वहि, अशयिष्महि । अशयिष्यत, अशयिष्येताम् अशयिष्यन्त । अशयिष्यथाः, अशयिष्येथाम्, अशयिष्यध्वम् । अशयिष्ये, अशयिष्यावहि, अशयिष्यामहि । इति अदादयः ।

३ अथ जुहोत्यादयः ।

हु दानादनयोः ॥ १ ॥

३६५ जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २ । ४ । ७५ ।

शपः श्लुः स्यात् ।

३६६ श्लौ ६ । १ । १० ।

धातोर्द्वे स्तः । जुहोति । जुहुतः ।

३६७ अदभ्यस्तात् ७ । १ । ४ ।

झस्यात्स्यात् ।

३६८ हु-श्नुवोः सार्वधातुके ६ । ४ । ८७ ।

हु-श्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य उवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके । जुह्वति । जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ । जुहोमि, जुहुवः जुहुमः ।

---

३६५ जुहोत्यादिगण—पठित धातुओं से शप् का 'श्लु' (लोप) होता है ।

३६६ श्लु होने पर धातु को द्वित्व होता है ।

३६७ अभ्यस्त से परे झ को अत् होता है ।

३६८ हु धातु और श्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच् अंग, तदवयव असंयोगपूर्वक उवर्ण को यण् होता है अजादि परे हो तो ।

३६९–३७० भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च ३ । १ । ३९ ।

एभ्यो लिटि आम् वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च । जुहु-
अकार, जुहाव । जुहुवतुः, जुहुवुः । जुहविथ, जुहुवथुः, जुहु-
जुहाव-जुहव, जुहुविव, जुहुविम । होता । होष्यति । जुहोतु, जु-
तात् । जुहुताम् । जुह्वतु । जुहुधि । जुहुतात्, जुहुतम्, जुहु-
जुहवानि जुहवाव, जुहवाम । अजुहोत्, अजुहुताम् । झेर्जुस् ।

३७१ जुसि च ७ । ३ । ८६ ।

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि । अजुहवुः । अजुहोः, अ-
हुतम्, अजुहुत । अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम । जुहुयात्, जुहु-
ताम्, जुहुयुः । जुहुयाः, जुहुयातम्, जुहुयात । जुहुयाम्, जुहुया-
जुहुयाम ।

३७२ अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७ । ४ । २५ ।

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये न तु कृत-सार्वधातुकयो-
हूयात् । हूयास्ताम् । हूयासुः । हूयाः, हूयास्तम्, हूयास्त । हूयास-
हूयास्व, हूयास्म । अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषुः । अहौषीः, अ-
ष्टम्, अहौष्ट । अहौषम्, अहौष्व, अहौष्म । अहोष्यत्, अहोष्यता-
अहोष्यन् । अहोष्यः, अहोष्यतम्, अहोष्यत । अहोष्यम्, अहोष्या-
अहोष्याम । इति जुहोत्यादयः ।

अथ दिवादयः ।

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्व-
कान्ति-गतिषु ॥ १ ॥

---

३७० भी, ह्री, भृ, और हु धातु से परे आम् होता है लिट् परे रहते
श्लुनिमित्तक कार्य भी होता है ।

३७१ इगन्तांग को गुण होता है अजादि जुस् परे हो तो ।

३७२ कृत् और सार्वधातुक को छोड़कर यादि प्रत्यय परे हो तो अ-
को दीर्घ होता है ।

३७३ दिवादिभ्यः श्यन् ३ । १ । ६९ ।

शपोऽपवादः ।

३७४ हलि च ८ । २ ७७ ।

रेफ-वान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि ।

दीव्यति । दिदेव दिदिवतुः दिदिवुः । दिदेविथ, दिदिवथुः । दिदिव । दिदेव दिदिविव, दिदिविम । देविता ।

देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत्, अदेविष्टाम्, अदेविषुः । अदेवीः, अदेविष्टम्, अदेविष्ट । अदेविषम्, अदेविष्व, अदेविष्म । अदेविष्यत् ।

जनी प्रादुर्भावे ॥ २ ॥ ई इत् ।

३७५ ज्ञा-जनोर्जा ७ । २ । ७९ ।

अनयोर्जादेशः स्यात् शिति । जायते । द्वित्वे, हलादिशेषे, जजन् (त) ए, इत्यत्र, "गम-हन-जन....." इति उपधालोपे, श्चुत्वेन नस्य ञत्वे, जञोर्ज्ञः । जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे । जज्ञिषे, जज्ञाथे, जज्ञिध्वे । जज्ञे, जज्ञिवहे, जज्ञिमहे । जनिता । जनिष्यते । जायताम् । अजायत । जायेत । जनिषीष्ट ।

३७६ दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् ३ । १ । ६१ ।

एभ्यश्च्लेश्चिण वा स्यात् एकवचने तशब्दे परे ।

---

३७३ दिवादिगण पठित-धातुओं से श्यन् होता है और यह शप् का अपवाद है ।

३७४ रेफान्त और वान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होता है हल् परे हो तो ।

३७५ ज्ञा और जन्-धातु को 'जा' आदेश होता है शित् परे हो तो ।

३७६ दीप् आदि धातुओं की च्लि को चिण् विकल्प से होता है एकवचन त-शब्द परे हो तो ।

३७७ चिणो लुक् ६ । ४ । १०४ ।

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात् ।

३७८ जनि-वध्योश्च ७ । ३ । ३५ ।

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। अजनि, अजनिष्ट । अजनिषाताम्, अजनिषत । अजनिष्ठाः, अजनिषाथाम्, अजढ्निवम् । अजनिषि, अजनिष्वहि, अजनिष्महि ।

पद गतौ ॥ ३ ॥ पद्यते । पेदे । पत्ता । पत्सीष्ट ।

३७९ चिण् ते पदः ३ । १ । ६० ।

पदेश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । अपत्थाः, अपत्साथाम्, अपध्वम् । अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि । इति दिवादयः ।

५ अथ स्वादयः ।

षुञ् अभिषवे ॥ १ ॥

३८० स्वादिभ्यः श्नुः ३ । १ । ७३ ।

शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः । हुश्नुवोरिति यण् । सुन्वन्ति । सुनुवः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुनुवहे । सुषाव । सुषुवे । सोता ।

३८१ उतश्च प्रत्ययादसंयोग-पूर्वात् ६ । ४ । १०६ ।

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययाद् उतो हेर्लुक् । सुनु । सुनवानि । सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ।

---

३७७ चिण् से परे त-शब्द का लुक् होता है ।

३७८ जन और वध की उपधा को वृद्धि नहीं होती चिण् और ञ्णित्-कृत् परे होने पर ।

३७९ पद-धातु की च्लि को चिण् होता है त—शब्द परे हो तो ।

३८० स्वादिगण-पठित धातुओंसे 'श्नु' होता है । और यह शप्का अपवाद है ।

३८१ असंयोग पूर्व प्रत्यय के उकार से परे 'हि' का लुक् होता है ।

३८२ स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७ । २ । ७२ ।

एभ्यस्सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट । इति स्वादयः ।

६ अथ तुदादयः ।

तुद् व्यथने ॥ १ ॥

३८३ तुदादिभ्यः शः ३ । १ । ७७ ।

शपोऽपवादः ।

३८४ पुगन्तलघूपधस्य च ७ । ३ । ८६ ।

पुगन्तस्य लघूपधस्य च अङ्गस्येको गुणः स्यात् । इति प्राप्ते । "सार्वधातुकमपित्" इति ङिद्वद्भावः, "क्ङिति" इति गुणनिषेधः तुदति, तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत्, अतौत्ताम्, अतौत्सुः । अतौत्सीः, अतौत्तम्, अतौत्त । अतौत्सम्, अतौत्स्व, अतौत्स्म ।

३८५ झलो झलि ८ । २ । २६ ।

झलः परस्य सस्य लोपो झलि । अतुत्त अतुत्साताम्, अतुत्सत । अतुत्थाः, अतुत्साथाम्, अतुद्ध्वम् । अतुत्सि, अतुत्स्वहि, अतुत्स्महि । इति तुदादयः ।

७ अथ रुधादयः ।

रुधिर् आवरणे ॥ १ ॥

३८६ रुधादिभ्यः श्नम् ३ । १ । ७८ ।

शपोऽपवादः ।

---

३८२ स्तु-सु-धूञ् से परे सिच् को इट् होता है परस्मैपद में ।

३८३ तुदादि-गण पठित धातुओं से 'श' होता है ।

३८४ पुगन्त और लघूपध अंग के इक् को गुण होता है ।

३८५ झल से परे स् का लोप होता है झल् परे हो तो ।

३८६ रुधादिगण पठित धातुओं से 'श्नम्' होता है ।

३८७ झषस्तथोर्धोऽधः ७ । २ । ४० ।

झषः परयोः तथोर्धः स्यात् न तु दधाते । रुणद्धि । श्नसोरल्लोपः ।

३८८ झरो झरि सवर्णे ८ । ४ । ३५ ।

हलः परस्य झरो लोपो वा सवर्णे झरि । रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध । रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः । रुन्धे, रुन्धाते रुन्धते । रोद्धा । रोत्स्यति । रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धात्, रुन्धाम् रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम । रुन्धाम्, रुन्धाताम् रुन्धताम् । रुन्त्स्व, रुणधै, रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत् अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणत्, अरुन्ध । अरुन्धाताम् अरुन्धत । अरुन्धाः । रुन्ध्यात्, रुन्धीत ।

३८९ लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु १ । २ । ११ ।

इक्समीपाद् हलः परौ लिङ्-सिचौ कितौ स्तः तङि । रुत्सीष्ट । अरुद्ध ।

३९० वद-व्रज-हलन्तस्याचः ७ । २ । ३ ।

एषामचो वृद्धिः सिचि परस्मैपदेषु । अरौत्सीत्, अरौद्धाम् अरौत्सुः अरौत्सीः । अरौद्धम्, अरौद्ध । अरौत्सम्, अरौत्स्व, अरौत्स्म । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत । इति रुधादयः ।

८ अथ तनादयः ।

तनु विस्तारे ॥ १ ॥

३९१ तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ।

---

३८७ झष् से परे त–थ को 'ध' होता है दा धातु को छोड़कर ।

३८८ हल् से परे झर् का लोप विकल्प से होता है सवर्ण झर् परे हो तो ।

३८९ इक्समीप हल् से परे लिङ्-सिच् कित् होते हैं तङ् परे हो तो ।

३९० वद, व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि होती है परस्मैपद सिच् परे हो तो ।

३९१ तनादि और कृञ् से परे शप् का अपवाद 'उ' प्रत्यय होता है ।

शपोऽपवादः। तनोति, तनुते। ततान, तेने। तनितासि, तनितासे। तनिष्यति तनिष्यते। तनोतु, तनुताम्। तन्वन्तु। सिपि—तनु-तनुतात्, तनुतम्, तनुत। तनवानि, तनवाव, तनवाम। अतनोत्, अतनुत। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। "अतो हलादेः—" इति वा वृद्धिः। अतनीत्, अतानीत्।

३९२ तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९।

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् त-थासोः। इति सिचोलुकि—

३९३ अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७।

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याद् झलादौ किति ङिति परे। अतत, अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्। अतनिष्यत। इति तनादयः।

९ क्र्यादयः।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये॥१॥

३९४ क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१।

शपोऽपवादः। क्रीणाति।

३९५ ई हल्यघोः ६।४।११३।

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि नतु घोः। क्रीणीतः।

---

३९२ तनादि धातुओं के सिच् का विकल्प से लोप होता है त और थास् परे हो तो।

३९३ अनुनासिकान्त धातु और वन धातु तथा तनोत्यादि धातु के अनुनासिक का लोप होता है झलादि कित्-ङित् परे हो तो।

३९४ क्र्यादिगण की धातुओं से शप् का अपवाद 'श्ना' होता है।

३९५ श्ना और अभ्यस्त के 'आ' को 'ईत्' होता है सार्वधातुक कित्-ङित् हल परे हो तो 'घु' संज्ञक धातुओं को छोड़ कर।

३८७ झषस्तथोर्धोऽधः ७ । २ । ४० ।

झषः परयोः तथोर्धः स्यात् न तु दधाते । रुणद्धि । श्नसोरल्लोपः ।

३८८ झरो झरि सवर्णे ८ । ४ । ३५ ।

हलः परस्य झरो लोपो वा सवर्णे झरि । रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध । रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः । रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते । रोद्धा । रोत्स्यति । रोत्स्यते । रुणद्धु-रुन्धात्, रुन्धाम्, रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम । रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम् । रुन्त्स्व, रुणधै, रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्, अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणत्, अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । रुन्ध्यात्, रुन्धीत ।

३८९ लिङ्-सिचावात्मनेपदेषु १ । २ । ११ ।

इक्समीपाद् हलः परौ लिङ्-सिचौ कितौ स्तः तङि । रुत्सीष्ट । अरुधत् ।

३९० वद-व्रज-हलन्तस्याचः ७ । २ । ३ ।

एषामचो वृद्धिः सिचि परस्मैपदेषु । अरौत्सीत्, अरौद्धाम् अरौत्सुः अरौत्सीः । अरौद्धम्, अरौद्ध । अरौत्सम्, अरौत्स्व, अरौत्स्म । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत । इति रुधादयः ।

८ अथ तनादयः ।

तनु विस्तारे ॥ १ ॥

३९१ तनादिकृञ्भ्य उः ३ । १ । ७९ ।

---

३८७ झष् से परे त–थ को 'ध' होता है दा धातु को छोड़कर ।

३८८ हल् से परे झर् का लोप विकल्प से होता है सवर्ण झर् परे हो तो ।

३८९ इक्समीप हल् से परे लिङ्-सिच् कित् होते हैं तङ् परे हो तो ।

३९० वद, व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि होती है परस्मैपद सिच् परे हो तो ।

३९१ तनादि और कृञ् से परे शप् का अपवाद 'उ' प्रत्यय होता है ।

शपोऽपवादः। तनोति, तनुते। ततान, तेने। तनितासि, तनितासे। तनिष्यति तनिष्यते। तनोतु, तनुताम्। तन्वन्तु। सिपि—तनु-तनुतात्, तनुतम्, तनुत। तनवानि, तनवाव, तनवाम। अतनोत्, अतनुत। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। "अतो हलादेः—" इति वा वृद्धिः। अतनीत्, अतानीत्।

३९२ तनादिभ्यस्तथासोः २। ४। ७९।

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् त-थासोः। इति सिचोलुकि—

३९३ अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६। ४। ३७।

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याद् झलादौ किति ङिति परे। अतत, अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्ठाः। अतनिष्यत्। अतनिष्यत। इति तनादयः।

९ क्र्यादयः।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये॥ १॥

३९४ क्र्यादिभ्यः श्ना ३। १। ८१।

शपोऽपवादः। क्रीणाति।

३९५ ई हल्यघोः ६। ४। ११३।

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि नतु घोः। क्रीणीतः।

---

३९२ तनादि धातुओं के सिच् का विकल्प से लोप होता है त और थास् परे हो तो।

३९३ अनुनासिकान्त धातु और वन धातु तथा तनोत्यादि धातु के अनुनासिक का लोप होता है झलादि कित्-ङित् परे हो तो।

३९४ क्र्यादिगण की धातुओं से शप् का अपवाद 'श्ना' होता है।

३९५ श्ना और अभ्यस्त के 'आ' को 'ईत्' होता है सार्वधातुक कित्-ङित् हल् परे हो तो 'घु' संज्ञक धातुओं को छोड़ कर।

३९६ श्नाभ्यस्तयोरातः ६ । ४ । ११२ ।

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय ।

३९७ अचि श्नु-धातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६ । ४ । ७७ ।

श्नु-प्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्यस्य चाङ्गस्य इयङ्-उवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रेथ, चिक्रयिथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति, क्रेष्यते । क्रीणातु क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । अक्रीणात्, अक्रीणीताम् अक्रीणन् । अक्रीणाः, अक्रीणीतम् अक्रीणीत । अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम । अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत । अक्रीणीथाः अक्रीणाथाम् अक्रीणीध्वम् । अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि क्रीणीयात् क्रीणीत । क्रीयात्, क्रेषीष्ट ।

३९८ सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७ । २ । १ ।

इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि । अक्रैषीत् अक्रेष्ट । अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत । इति क्र्यादयः ।

१० अथ चुरादयः ।

चुर स्तेये ॥ १ ॥

३९९ सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् ३ । १ । २५ ।

एभ्यो णिच् स्यात् । चूर्णान्तेभ्यो धात्वर्थे, चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे ।

---

३९६ श्ना और अभ्यस्त के आकार का लोप होता है कित्—ङित् सार्वधातुक परे हो तो ।

३९७ श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त, उवर्णान्त जो धातु और "भ्रू" इस अंग को 'इयङ' और 'उवङ' आदेश होता है अजादि प्रत्यय परे हो तो ।

३९८ इगन्त अंग को वृद्धि होती है-परस्मैपद सिच् परे हो तो ।

३९९ सत्यादियों से परे 'णिच्' प्रत्यय होता है ।

४०० सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ ।

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः ।
सन् क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाचारक्विब्णिज् यङौ तथा ।
यगायेयङ्णिङश्चेति द्वादशाऽमी सनादयः ॥
तिप्-शबादि गुणायादेशौ । चोरयति ।

४०१ णिचश्च १ । ३ । ७४ ।

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषीष्ट ।

४०२ णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् ३ । १ । ४८ ।

ण्यन्ताच्छ्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे ।

४०३ णेरनिटि ६ । ४ । ५१ ।

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात् ।

४०४ णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ७ । ४ । १ ।

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात् ।

४०५ चङि ६ । १ । ११ ।

चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तोऽजादेर्द्वितीयस्य ।

---

४०० सनादिप्रत्ययान्तों की धातु-संज्ञा होती है ।

४०१ कर्तृगामी क्रियाफल हो तो णिजन्तों से आत्मनेपद होता है ।

४०२ ण्यन्त तथा श्र्यादियों से परे च्लि को चङ् होता है कर्त्रर्थ में ।

४०३ अनिडादि आर्धधातुक परे हो तो णि का लोप होता है ।

४०४ चङ्परक णि परे होने पर जो अंग, उसकी उपधा को ह्रस्व होता है ।

४०५ चङ् परे होने पर अनभ्यास धात्ववयव एकाच् के प्रथम को द्वित्व होता है आदिभूत अच हो तो दूसरे को ।

४०६ सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७। ४। ९३।

चङ्परे णौ यदङ्गं तस्य योऽभ्यासो लघुपरः तस्य सनीव कार्यं स्यात् णौ अग्लोपे असति।

४०७ दीर्घो लघोः ७। ४। ९४।

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये। अचूचुरत्, अचूचुरत।

इति चुरादयः।

अथ ण्यन्तप्रक्रिया

४०८ स्वतन्त्रः कर्ता १। ४। ५४।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

४०९ तत्प्रयोजको हेतुश्च १। ४। ५५।

कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्।

४१० हेतुमति च ३। १। २६।

प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति भावयति।

४११ ओः पुयण्ज्यपरे ७। ४। ८०।

सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासोकारस्य इत्स्यात् पवर्ग-यण्-

---

४०६ चङ्परक णि परे होने पर जो अंग, उसके अवयव लघुपरक अभ्यास को सन्वद्भाव होता है यदि णि परे होने पर अक् का लोप न हुआ हो।

४०७ लघु अभ्यास को दीर्घ होता है सन्वद्भाव विषय में।

४०८ क्रिया में स्वतन्त्रता से विवक्षित अर्थ की 'कर्ता' संज्ञा होती है।

४०९ कर्ता का प्रयोजक हेतुसंज्ञक और कर्तृसंज्ञक होता है।

४१० प्रयोजक के व्यापार (प्रेषणा, अन्वेषणा और अध्येषणा) के वाच्य होने पर धातु से णिच् होता है।

४११ सन्परक जो अंग, उसके अवयव अभ्यास से इकारादेश होता है अवर्णपरक पवर्ग, यण्, जकार परे हो तो।

जकारेष्व-वर्णपरेषु परतः ।

भूधातोर्ण्यन्ताल्लुङि अडागमे च्लेश्चङि "णिचि-अच आदेशो न द्वित्वे कर्त्तव्ये" इति पूर्वं वृद्ध्यभावे 'भू' इत्यस्य द्वित्वे अभ्यासकार्यें (भस्य बत्वे ह्रस्वे च) अबु भू + इ + अ त्, इति स्थितौ (परस्य) वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति ह्रस्वे सन्वद्भावे अभ्यासोकारस्य इत्वे (णिलोपे) 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः—

—अबीभवत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ ॥

४१२ अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ् णौ ७।३।३६

स्थापयति = तिष्ठन्तं—प्रेरयति : लुङि—

अस्थाप् + इ + अत् इतिस्थितौ द्वित्वेऽभ्यासकार्यें 'अथास्थप् इ अत्' इत्यत्र अभ्यासस्य चर्त्वे उपधा ह्रस्वे, सन्वद्भावे—

४१२॥ सन्यतः ७ । ४ । ७९ ।

अभ्यासस्यात इत् स्यात् सनि । इति अभ्यासस्य इत्वे षत्वे ष्टुत्वे च 'अतिष्ठप् इ अत्' स्थितौ—

४१३ तिष्ठतेरित् ७ । ४ । ५ ।

उपधाया इदादेशः स्यच्चङ् परे णौ । इति उपधाया इत्वे, णिलोपे च । अतिष्ठिपत् ।

घट चेष्टायाम् ।

४१४ मितां ह्रस्वः ६ । ४ । ९२ ।

घटादीनां ज्ञपादीनां च ह्रस्वः । (घटादयो ज्ञपादयश्च मितः ।) घटयति । अजीघटत् । ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् ॥

इति णयन्तप्रक्रिया ।

---

४१२ अर्ति, ह्री आदि धातुओं को पुक् का आगम होता है णि परे हो तो।

४१२॥ अभ्यास के अकार को इत् होता है सन् परे रहते ।

४१३ स्था धातु की उपधा को इकार आदेश होता है चङ्परक णि परे होने पर

४१४ घटादि और ज्ञपादि धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है चङ्परक णि परे हो तो ।

अथ सन्नन्तप्रक्रिया ।

४१५ धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३ । १ । ७ ।

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन् प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् । पठ व्यक्तायां वाचि ।

४१६ सन्यङोः ६ । १ । ९ ।

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य ।

पठितुमिच्छति-पिपठिषति । कर्मणः किम्—गमनेनेच्छति । समानकर्तृकात्किम्—शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः । वा ग्रहणाद्वाक्यमपि । लुङ्सनोर्घस्लृ ।

(१७–१८) ४१९ सस्यार्धधातुके ७ । ४ । ४९ ।

सस्य तः स्यात्सादावार्धधातुके । अत्तुमिच्छति-जिघत्सति ।

४२० अज्झनगमां सनि ६ । ४ । १६ ।

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

४२१ इको झल् १ । २ । ९ ।

इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । कर्तुमिच्छति-चिकीर्षति ।

---

४१५ इच्छा के कर्मीभूत और इच्छा के साथ एक कर्ता वाले धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय होता है विकल्प से ।

४१६ सनन्त और यङन्त धातुओं के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है, अजादि धातुओं के द्वितीय एकाच् अवयव को द्वित्व होता है ।

४१८ उपदेशावस्था में जो एकाच् धातु, उससे परे आर्धधातुक को इट् नहीं होता ।

४१९ सकार को तकारादेश होता है सादि आर्धधातुक परे हो तो ।

४२० अजन्त धातु, हन् और अजादेश गम् धातु को दीर्घ होता है झलादि सन् परे हो तो ।

४२१ इगन्त धातु से परे झलादि सन् कित् होता है ।

४२२ ॠत इद्धातोः ७ । १ । १०० ।

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात् ।

४२३ सनि ग्रह-गुहोश्च ७ । २ । १२ ।

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात् । बुभूषति । इति सन्नन्ताः ।

अथ भावकर्मप्रक्रिया ।

४२४ भावकर्मणोः १ । ३ । १३ ।

लस्यात्मनेपदम् ।

४२५ सार्वधातुके यक् ३ । १ । ६७ ।

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके । भावः = क्रिया । सा च भावार्थकलकारेणानूद्यते । युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया मया अन्यैश्च भूयते । बभूवे ।

४२६ स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झन-ग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च ६ । ४ । ६२ ।

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च । चिण्व-

---

४२२ दीर्घ ॠकारान्त धातु के अंग को 'इत्' होता है। वह रपरक होता है।

४२३ ग्रह, गुह और उगन्त धातु से स को इट् नहीं होता।

४२४ भाव और कर्म में धातु के लकार के स्थान में आत्मनेपद होता है।

४२५ धातु से यक् होता है भावकर्मवाची सार्वधातुक परे हो तो।

४२६ उपदेश में जो अच्, तदन्त जो धातु और हन-ग्रह-दृश धातु, इनको चिण् के समान अंगकार्य विकल्प से होता है स्य-सिच्-सीयुट् और तास् परे हो तो, भावकर्म गम्यमान होना चाहिये, स्यादियों को इडागम भी होता है।

द्भावपक्षेऽयमिट्। चिण्वद्भावाद् वृद्धिः। भाविता, भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट।

४२७ चिण् भावकर्मणोः ३।१।६६।

च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः—अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूयसे। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्।

४२८ तनोतेर्यकि ६।४।४४।

आकारान्तादेशो वा स्यात्। तायते, तन्यते।

४२९ तपोऽनुतापे च ६।१।६५।

तपश्च्लेश्चिण न स्यात्कर्मकर्तर्यनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। घुमास्थेतीत्वम्। दीयते। धीयते। ददे।

४३० आतो युक् चिण्कृतोः ७।३।३३।

आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता, दाता। दायिषीष्ट, दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्। भञ्जो धातुः, भज्यते।

४३१ भञ्जेश्च चिणि ६।४।३३।

नलोपो वा स्यात्। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते।

---

४२७ च्लि के स्थान में चिण् होता है भाव-कर्मवाची त-शब्द परे हो तो।

४२८ तन्-धातु को आकार अन्तादेश होता है विकल्प से यक् परे हो तो।

४२९ तप् धातु की च्लि को चिण् नहीं होता कर्म कर्ता और अनुताप अर्थ में।

४३० आकारान्त-धातुओं को युक् का आगम होता है चिण्, ञित्, णित् कृत् परे हो तो।

४३१ भञ्ज धातु के न का लोप होता है विकल्प से चिण् परे हो तो।

४३२ विभाषा चिएणमुलोः ७ । १ । ६९ ।

लभेर्नुमागमो वा स्यात्। अलम्भि, अलाभि । इति भावकर्म-प्रक्रिया ।

अथ कृदन्ताः ।

धातोरित्यधिकारः ।

४३३ कृदतिङ् ३ । १ । ९३ ।

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नप्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ।

४३४ कृत्याः ७ । १ । ९५ ।

ण्वुल्तृचावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

४३५ कर्तरि कृत् ३ । ४ । ६७ ।

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते ।

४३६ तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः ३ । ४ । ७० ।

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

४३७ तव्यत्तव्यानीयरः ३ । १ । ९६ ।

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम् एधनीयं त्वया, भावे-औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वञ्च । कर्मणि–चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

---

४३२. लभ धातु को नुम् का आगम होता है विकल्प से चिण् णमुल परे हो तो ।

४३३ तीसरे अध्याय के धात्वधिकार में तिङ् से भिन्न प्रत्यय 'कृत' संज्ञक होता है ।

४३४ "ण्वुल्-तृचौ" सूत्र से पूर्व पूर्व सभी प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञक कहलायेंगे ।

४३५ कृत् प्रत्यय कर्ता में होते हैं ।

४३६ कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही होंगे ।

४३७ तव्यत्, तव्य और अनीयर् धातु से होते हैं ।

४३८ अचो यत् ३ । ४ । ९७ ।

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात् "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणः । चेयम् ।

४३९ ईद्यति ६ । ४ । ६५ ।

यति परे आत ईत्स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

४४० कर्मण्यण् ३ । २ । १ ।

कर्मण्युपपदे । धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः ।

४४१ चरेष्टः ३ । २ । १६ ।

अधिकरणे उपपदे । कुरुषु चरतीति,कुरुचरः ।

४४२ क्त-क्तवतू निष्ठा १ । १ । २६ ।

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

४४३ निष्ठा ३ । २ । १०२ ।

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र "तयोरेवेति" भावकर्मणोः क्तः, कर्तरि कृदिति कर्तरि क्तवतुः । उकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

४४४ लटः शतृ-शानचावप्रथमा-समानाधिकरणे ३।२।१२४।

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः । शबादि । पचन्त चैत्रं पश्य ।

---

४३८ अजन्त धातुओं से 'यत्' प्रत्यय होता है ।

४३९ यत् परे हो तो आकार को ईत् आदेश होता है ।

४४० कर्म उपपद हो तो धातु से अण् प्रत्यय होता है ।

४४१ अधिकरण उपपद हो तो चर धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

४४२ क्त और क्तवतु को 'निष्ठा' कहते हैं ।

४४३ भूतार्थ में वृत्त धातु से 'निष्ठा' प्रत्यय होता है ।

४४४ अप्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं ।

४४५ आने मुक् ७ । २ । ८२ ।

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे । पचमानं चैत्रं पश्य ।

अथोत्तरकृदन्तम् ।

४४६ भावे ३ । ३ । १८ ।

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाठः ।

४४७ एरच् ३ । ३ । ५६ ।

इवर्णान्ताद् अच् । गुणे, अयादेशः । चयः । जयः ।

४४८ नपुंसके भावे क्तः ३ । ३ । ११४ ।

४४९ ल्युट् च ४ । ३ । ११४ ।

हसितम् । हसनम् ।

४५० हलश्च ३ । ३ । १२१ ।

हलन्ताद् घञ् । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्य तेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः (पुठकण्डा)

४५१ ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३ । ३ । १२६ ।

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल् । तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे-ईषत्करः । सुकरः ।

---

४४५ 'आन' परे हो तो अदन्तांग को मुक् का आगम होता है ।

४४६ सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थ हो तो धातु से 'घञ्' प्रत्यय हो ।

४४७ इवर्णान्त धातु से 'अच्' प्रत्यय होता है ।

४४८ नपुंसक भाव में 'क्त' प्रत्यय होता है ।

४४९ और 'ल्युट्' प्रत्यय होता है ।

४५० हलन्त धातु से 'घञ्' होता है ।

४५१ ईषत्-दुस्-सु उपपद हों तो कृच्छ्र और अकृच्छ्रार्थ में खल् होता है ।

४५२ समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३ । ४ । २१ ।

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमत्र=अविवक्षितम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ।

४५३ न क्त्वा सेट् १ । २ । १८ ।

सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट् किम्-कृत्वा ।

४५४ समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७ । ३ । ३७ ।

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् ।

४५५ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६ । १ । ७१ ॥

प्रकृत्य । अनञ् किम्-अकृत्वा । इति उत्तरकृदन्तप्रकरणम् ।

इतिश्री पूर्वपञ्चाम्बु-प्रान्त-मध्यवर्ति-होश्यारपुर-मण्डलान्तर्गत-"जेजों-" नगर-निवासि पं० श्रीरामनारायणशर्म-तनूजन्म-श्री पं० विश्वनाथ-शास्त्रि-प्रभाकर-सङ्कलितं प्रारम्भिकपाणिनीयं सम्पूर्णम् ।

ॐ तत्सत्

—०—

---

४५२ समान-कर्तृक धात्वर्थों में, पूर्व काल में वर्तमान धातु से 'क्त्वा' होता है ।

४५३ सेट् क्त्वा 'कित्' नहीं होता ।

४५४ नञ्-समास-भिन्न अव्ययपूर्वपद समास में क्त्वा को 'ल्यप्' होता है ।

४५५ ह्रस्व को तुक् का आगम होता है पित्-कृत् परे रहते ।

इति प्रारम्भिक-पाणिनीय-भाषार्थ समाप्त ।

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमाला

परीक्षोपयोगि-टीका-त्रयोपेता-

पाणिनीय-शिक्षा

'अभिनवराजलक्ष्मी'-'भाषाटीका'-'पञ्जिका-भाष्य'मिति-
टीकात्रय-समुद्भासिता ।

टीकाकाराः—

आचार्याः श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणः ।

प्रकाशकः—

भार्गव-पुस्तकालय, गायघाट, बनारस ।

[ब्रांच—कचौड़ीगली, बनारस] ।

प्रथमं संस्करणम्]   सं० २००५   [मूल्यं ॥=)



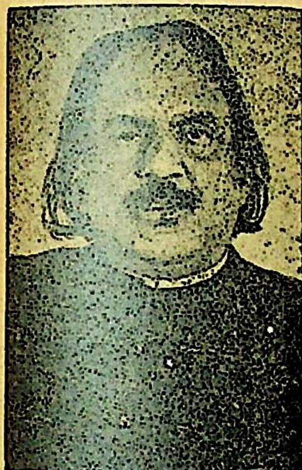


MINISTER OF EDUCATION & LABOUR
UNITED PROVINCES,

Lucknow, Oct. 18, 1949.

Dear Sir,

Please refer to your letter dated August 2, 1949,



forwarding a copy of each of 'Swapandosh Vigyan' and 'Paniniya Shiksha' and a few copies of 'Bapu Chalisa', The Hon'ble Minister thinks that 'Paniniya Shiksha' is a very useful publication. 'Swapandosh Vigyan' is also useful but he would like that it had had a different name.

Yours Sincerely,

Sd. G. S. Agrawal,

Personal Assistant,
to the Hon'ble Minister for Education
and Labour, U. P.

Sri Kailash Nath Bhargava,
'Amar'.
Bhargava Ashram, Gayghat,
BANARAS.

(मरुमण्डल-मार्त्तण्ड श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां (-चिरावा-जयपुर-) पुण्यं स्मारकं-)

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमालायाः परीक्षोपयोगि-प्रसूनं-

काशिक-राजकीय-मध्यमा-शास्त्र्यादि-परीक्षासु पाठ्यतया निर्धारिता-

परीक्षोपयोगि-विस्तृत-सरल-टीकात्रयोपेता-

पाणिनीय-शिक्षा ।

अभिनवराजलक्ष्मीसमाख्यया व्याख्यया, विस्तृतया भाषाटीकया,
प्राचीनेन पञ्जिकाभाष्येण च विभूषिता ।

[परीक्षोपयोगि सरलसुपादेयं संस्करणम्] ।

टीकाकाराः—

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणः,

व्याकरणाचार्याः, न्यायाचार्याः, दर्शनाचार्याः ।

[अध्यक्षाः—श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, बनारस] ।

प्रकाशकः—

भार्गव-पुस्तकालयः, गायघाट, काशी ।

(ब्राञ्च—कचौड़ीगली, बनारस) ।

[प्रथ]मं संस्करणम् } सं० २००५ श्रीगणेशचतुर्थी { मूल्यं ॥=)

पाणिनीयशिक्षा की भूमिका

भारतीय सभ्यता का मुख्य आधार वेद (श्रुति) और स्मृतियाँ ही हैं। उनमें वेद ४ हैं। उनमें से चौथा अथर्ववेद यज्ञ—याग आदिमें विशेष उपयोगी न होने से, तथा शान्तिक पौष्टिक कार्योपयोगी होनेसे अवशिष्ट तीनही वेद—(ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) 'त्रयी' नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। उन वेदोंके मनुष्यों की तरह ही ६ छै अङ्ग (हाथ पाँव मुख नाक आदि) माने जाते हैं। उनमें 'शिक्षा' वेदकी नाक है। शिक्षा के ज्ञान के विना वर्णोंके उच्चारण आदिका ज्ञान ठीक से नहीं होसकता है। अतः साङ्गवेद पढ़नेके लिए शिक्षा पढ़ना आवश्यक है। शिक्षाओं में भी यह 'पाणिनीय शिक्षा' छोटी होने पर भी बहुत उपादेय है। इसमें बहुत सी ज्ञातव्य बातें आ गई हैं।

इस लिए काशिक राजकीय मध्यमा, तथा शास्त्री परीक्षाओं में इसे स्थान दिया गया है। इसकी पुरातन प्रामाणिक टीका तो कोई उपलब्ध नहीं है।

पञ्जिका भाष्य—जरूर कुछ पुराना है, परन्तु वह भी बहुत संक्षिप्त है, तथा पूरी २ प्रामाणिकता भी उसमें नहीं है, क्योंकि—वह अभी बहुत थोड़े समय का ही बना हुआ प्रतीत होता है।

अतः कुछ विद्वानों ने इस पर परीक्षोपयोगी टीकाएं बनाईं हैं। परन्तु उनमें भी बहुत स्थलों में अर्थों का विशेष स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। अतः छात्रों के तथा स्नेही विद्वानों के विशेष आग्रह से हमने 'अभिनवराजलक्ष्मी' नामक विस्तृत संस्कृत टीका, एवं विस्तृत 'भाषा टीका' के साथ 'पञ्जिकाभाष्य' नामक प्राचीन टीका देकर यह नवीन संस्करण निकाल कर आप लोगों के करकमलों में अर्पण किया है।

इसमें—श्लोकों के अर्थ को, तथा विषय को समझा कर लिखने का हमने यथा बुद्धि प्रयास किया है। आशा है—यह संस्करण द्विजाति मात्र को—जो कि इस शिक्षा के पढ़ने के शास्त्रतः अधिकारी हैं—पढ़ने पढ़ाने में विशेष सहायता प्रदान करेगा। किञ्च—हमने 'स्वरसंचारप्रक्रिया' भी इसमें संक्षिप्त रूप से दे दी है। जिससे वेद पढ़ते समय स्वरों का ज्ञान हो सकेगा।

इस संस्करण में यदि कोई भ्रम एवं प्रमादवश त्रुटियाँ रह गई हों, तो उन्हें सहृदय विद्वान् लोग सुधार कर पढ़ें-पढ़ावें।

इति प्रार्थयते—

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज,
मीरघाट, काशी।
भाद्रशुक्ला ४. मं०
सं० २००५

श्रीगुरुप्रसादशास्त्री।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥

अथ

पाणिनीय-शिक्षा ।

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रि-विरचितया—

अभिनवराजलक्ष्मीटीकया, भाषाटीकया,
किञ्च—पञ्जिकाख्यभाष्येण च विराजिता ।

अथ शिक्षा प्रारभ्यते—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।
शास्त्रानुपूर्व्यं तद्विद्याद्यथोक्तं लोक-वेदयोः ॥ १ ॥

(अथ) अभिनवराजलक्ष्मीः ।

ऐन्दव्या कलयाऽवतंसितशिरो, विस्तारि, नादात्मकं,
तद्रूपं ललिते ! स्मरामि परमं सन्मन्त्रमेकं तव ।
यत्रोदेति पराऽभिधा भगवती भासां हि तासां पदं,
पश्यन्तीमनु मध्यमा, विहरति स्वैरं च सा वैखरी ॥ १ ॥

(—पृथ्वीधराचार्याणाम्) ।

गुरून्प्रणम्य वाग्देवीं दाक्षीपुत्रं च पाणिनिम् ।
शिक्षायाः पाणिनीयाया व्याख्यां कुर्मः सुबोधिनीम् ॥ २ ॥
महागणपतिं नत्वा, ध्यात्वा सारस्वतं महः ।
शिक्षाया विवृतिः सेयं वितत्य परिदर्श्यते ॥ ३ ॥

इह हि—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे' ति श्रुत्युक्तेः, विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकाऽनृजवे शठाय न

मां ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्' इति च श्रुत्युक्तेर्ब्राह्मणानां षडङ्गवेदाऽध्ययनं सन्ध्या-वन्दनवन्नित्यं कर्म। वेदाऽङ्गानि च—

'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
छन्दोविचितिरित्येतैः षडङ्गो वेद उच्यते ॥'

—इत्युक्तानि षट्। तत्र वर्णोच्चारणादिप्रकारप्रदर्शकत्वाच्छिक्षा तावन्मुख्यमङ्गम्। अतो व्याकरणाष्टाध्यायीं निर्मायाऽपि भगवान् पाणिनिः शिक्षां तावत्प्रस्तौति—अथेति।

अन्वयः—[1]अथ पाणिनीयं मतं यथा (तथा) शिक्षां प्रवक्ष्यामि। (यतः-) वेद-लोकयोः यथा उक्तं,—तत् शास्त्रानुपूर्वं (यथा स्यात्तथैव) विद्यात्। [शिक्षाख्यशास्त्रज्ञानपूर्वकमेव विदितं हि तत् (उक्तं) पुण्यजनकं भवति, नाऽन्यथा]।

अर्थः—अथेत्ययं शब्दो मङ्गलार्थः, आनन्तर्यार्थश्च। तदुक्तम्—ओंकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' इति। आनन्तर्यार्थत्वेऽपि मङ्गलार्थत्वं चाऽस्य—अन्यार्थं नीयमानस्य दध्यादेरिव प्रकृतेऽनुसन्धेयम्। अथ = अष्टाध्यायीसूत्रपाठ-गणपाठ-धातुपाठादि-व्याकरणशास्त्रनिर्माणाऽनन्तरम्। पणनं पणः=व्यवहारः, पणोऽस्यास्तीति पणी = प्रजापतिः, पणिनो गोत्रापत्यं—पाणिनः = कश्चन मुनिः। पाणिनस्य युवापत्यं-पाणिनिः। पाणिनेरिदं-पाणिनीयम् = पाणिनेर्मम। मतं यथा = यादृशः सिद्धान्तः। (तथा= तदनुसारिणीं)। शिक्ष्यन्ते वर्णोच्चारण-तत्स्थान-प्रयत्नादीनि बालेभ्यो यया सा—शिक्षा, तां—शिक्षां = वर्णोच्चारणादिशास्त्रं। प्रवक्ष्यामि = प्रकर्षेण, संक्षिप्य सुबोधतया, स्पष्टं वक्ष्यामि।

ननु श्रुति-स्मृति-पुराणे-तिहास-काव्य-कोशादिपठनेनैव लौकिक-वैदिक-शब्दोच्चारणादिप्रकारस्य शिक्षां विनाऽपि ज्ञातुं शक्यत्वाच्छिक्षाप्रणयनं व्यर्थमेवेत्याशङ्क्याह—शास्त्रानुपूर्व्यामिति। लोक-वेदयोः = लोके, वेदे च। लौकिकेषु वैदिकेषु च शब्देषु—इति यावत्। लोकस्य बहुविषयत्वात्तद्व्यवहारस्य सङ्केतग्राहकशिरोमणित्वाच्च वेदाऽपेक्षया पूर्वप्रयोगः। यथा=येन प्रकारेण। वचनम्-उक्तम्=उच्चा-

१. केचित्तु-'अथ = शिष्यजिज्ञासानन्तरं, पाणिनीयं मतं यथा = पाणिनीयमतमाश्रित्य, शिक्षां = शिक्षाख्यं वेदाङ्गं-प्रवक्ष्यामि। तत्=शिक्षाख्यं वेदाङ्गं, लोकवेदयोर्यथोक्तं=लोकवेदोक्तमनतिक्रम्य प्रवर्त्तमानं, शास्त्रानुपूर्वं (र्व्यं)=शास्त्रप्रवर्तकगुरुपरम्पराप्राप्तं, शङ्करादधिगतं-विद्यात् = जानीयात्—' इत्यर्थमाहुः।

रण-भाषण-शिक्षणादिकं—भवति। तत् = लौकिकवैदिकशब्दोच्चारणादिकमपि। शास्त्रम् (आनुपूर्व्येव-) आनुपूर्व्यं=परिपाटी, प्रवर्त्तकं, प्रथमं कारणं, प्रबोधकं च-यस्मिन् कर्मणि (वेदने, ज्ञाने) तत्—शास्त्रानुपूर्व्यं-यथा स्यात्तथा। शिक्षाख्य-शास्त्र-परिपाटीपूर्वकमेव। शिक्षाख्यशास्त्रज्ञानपुरस्सरमेव। विद्यात्=जानीयात्। शिक्षेत। [शिक्षाख्यशास्त्रज्ञानपूर्वकमेव विदितं = ज्ञातं हि, तत् = लौकिक-वैदिक-शब्दोच्चारणं, पुण्यजनकं भवति, नाऽन्यथा ज्ञातम्]। अतः शिक्षाज्ञानमावश्यकम्। तदुक्तं व्याकरणमहाभाष्ये—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः, सुप्रयुक्तः, स्वर्गे लोके कामधुग्भवती' ति। तत्र—सम्यग्ज्ञातः=व्याकरणशास्त्रीयप्रक्रियाद्वारा ज्ञातः। सुप्रयुक्तः= शिक्षोक्तप्रकारेण स्थान-प्रयत्नादिज्ञानपूर्वकं प्रयुक्तः=उच्चारित इत्यर्थः। एतेन शिक्षा-शास्त्रपूर्वकज्ञानस्यावश्यकत्वं स्पष्टमेव लभ्यते, अतः शिक्षाप्रणयनमावश्यकम्।

अयं भावः—यथा पुराण-काव्य-कोशाद्यध्ययनेन, लोकव्यवहारादिना च 'रामो गच्छती' त्यादिवाक्यानां ज्ञानस्य, तत्प्रयोगस्य च व्याकरणशास्त्राध्ययनं विनाऽपि सम्भवेऽपि, तादृशप्रयोगाणां न धर्मजनकत्वं, तथैव वेदाद्यध्ययन-लोकव्यवहारादिना शब्दोच्चारणस्य—स्थान-प्रयत्नादिज्ञानं विनाऽपि, शिक्षाध्ययनं विनाऽपि च सम्भवेऽपि, तादृशोच्चारणस्य न धर्मजनकत्वं, शास्त्र-प्रक्रियाज्ञानपूर्वके शब्दोच्चारणे एव धर्मश्रवणात्, अत उच्चारणविधिबोधकं शिक्षाख्यमिदं शास्त्रमध्येयमेव, व्याकरण-शास्त्रवदिति शिक्षेयं प्रवक्ष्यते पाणिनिनेति।

[केचित्तु—'पाणिनीयं=पाणिनिसम्बन्धि, मतं=ज्ञानं, पाणिन्यभिप्रेतं यथा—स्यात्तथा-प्रवक्ष्यामि। पाणिनीयमतेऽन्यशिक्षोक्तमतापेक्षयाऽत्यादरश्चाऽन्यशिक्षासु वैदिकशब्दोच्चारणादिमात्रविधिसत्त्वेऽप्यत्र पाणिनीये लौकिकवैदिकोभयविधशब्दो-च्चारणविधिसत्त्वादेव। व्याकरणेन 'गोशब्दः सास्नादिमदर्थे साधु' रित्यस्य बोधने-ऽपि 'गोशब्द इत्थमुच्चारणीय' इत्यस्य ततो बोधाऽभावेन व्याकरणेनाऽगतार्थतया शिक्षाप्रणयनमिदमावश्यकम्। पूर्वं=कारणं, सम्प्रदायप्रवर्त्तको गुरुः, पूर्वस्य-अनु=पश्चात्-प्राप्तम्-अनुपूर्वं=शास्त्रप्रवर्त्तकाऽऽचार्यपरम्पराप्राप्तमित्यर्थः। 'आनुपूर्व्य'मिति पाठेऽपि स्वार्थे ष्यञ्। अर्थस्तु स एव। तथा च वक्ष्यति-'शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते' इति। तत्=पाणिनीयं मतं। शास्त्रानुपूर्वं = शास्त्रप्रवर्त्तकमहेश्वरादिगुरुपरम्पराप्राप्तं, विद्यात्=जानीयात्। एतेन पाणिनीय-मतस्याऽऽधुनिकत्वं निरस्तं, सप्रमाणत्वं च तत्र सूचितम्। ननु तन्मतं शास्त्र-

विरुद्धं भवेदित्यत आह—यथोक्तमिति । लोकवेदयोः,—उक्तमनतिक्रम्य यथोक्तं। लोके=स्मृत्यादौ, वेदे=ऋग्वेदादौ, तत्प्रातिशाख्यादौ च, यथा कथितं तदेवाऽनुसृत्येदं पाणिनीयं मतं प्रवर्त्तते । तथा च लोकवेदानुसारित्वान्नैतन्मतं शास्त्रविरुद्धमित्याशयः ।'—इति व्याचक्षते] ।

अस्याः शिक्षायाः कर्त्ता स्वयं भगवान् पाणिनिरेव, 'पाणिनीयं मतं यथे'-त्युक्तिस्तु 'गोनर्दीयस्त्वाहे'तिवत्स्वस्यैव मतस्योपादानादेवेति केचित् ।

अन्येतु—पाणिन्यनुजेन पिङ्गलनागेन, पाणिनिशिष्येण, तदनुसारिणाऽन्येन वा केनचिन्निर्मितेयं शिक्षेति वदन्ति ।

भाषाटीका—भगवान् पाणिनिजी के मत के अनुसार इस शिक्षाशास्त्र को मैं कहता हूं। यद्यपि शिक्षा के विना भी, काव्य कोश और लोक व्यवहार आदिसे, तथा वेद से भी, उनके शब्दों के उच्चारण आदिका ज्ञान स्वतः ही हो सकता है, परन्तु शिक्षाशास्त्र के ज्ञान के पुरस्सर, शब्दों के उच्चारण की विधि का ज्ञान ही धर्मजनक होता है, अतएव शिक्षाशास्त्र की तदर्थ आवश्यकता है। जैसे-व्याकरण पढ़े विना भी काव्य कोश आदि के ज्ञानमात्र से ही बहुत से लोग 'रामो गच्छति' इत्यादि संस्कृत शब्दों (वाक्यों) को बोल सकते हैं, परन्तु इससे धर्म (पुण्य) नहीं होता है, किन्तु व्याकरणशास्त्रद्वारा प्रकृति प्रत्यय आदि के ज्ञान के पुरस्सर ही वाक्यों के प्रयोग में धर्म होता है, इसके लिए ही व्याकरणशास्त्र पढ़ा जाता है, ऐसे ही—बोलने से, सुनने से भी, शब्दोच्चारण आदिका ज्ञान यद्यपि स्वतः हो कसता है, परन्तु शिक्षशास्त्र के द्वारा हुआ उच्चारण विधि आदिका ज्ञान ही पुण्यजनक है। अतः शिक्षाशास्त्र पढ़ना चाहिए। इसलिए—मैं पाणिनीय मतानुसारिणी इस शिक्षा को बनाता हूं ॥ १ ॥

अथ पञ्जिका-भाष्यम् ।

पातु वो निकषग्रावा मतिहेम्नः सरस्वती ।
प्राज्ञेतरपरिच्छेदं वचसैव करोति या ॥ १ ॥
छन्दःकल्पनिरुक्तानि विवृतानीह सूरिभिः ।
शिक्षा न विवृता यस्मात्तस्मात्तां विवृणोम्यहम् ॥ २ ॥

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामीति। अथेत्ययमानन्तर्ये । वेदाध्ययनानन्तरमङ्गपाठः। किं कारणं ? । 'षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः' इति स्मरणात् । तत्र च शिक्षा प्रथमा, 'अथ'-

शब्दानुषङ्गात् । सा च वक्ष्यत्येत्यथशब्दस्यार्थः । एतेनैव सिद्धे वेदस्याङ्गानन्तर्येण व्याकरणादिष्वथशब्दोऽत्र एव नाधीयते । केषुचित् कल्पेषु अधीयते 'अथातोऽधिकारः', 'अथैतस्य समाम्नायस्य' इत्येवमादिषु—इति चेत् ?। नैष दोषः । नियमार्थः सः, 'शिक्षानन्तरं कल्प एवाध्येतव्यो नान्यानी'ति । मङ्गलार्थो वा ॥ आदौ सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि । तत्र चायमेव सम्बन्धो य उक्तोऽङ्गाङ्गिभावः । नित्यसम्बद्धानि ह्यङ्गान्यङ्गिना । अभिधेयं तु स्वयमेव वक्ष्यति—'वाच उच्चारणे विधिम्' इति । प्रयोजनं—सम्यग्वर्णोच्चारणम् । प्रयोजनमपि श्रूयते एव—'एकोऽपि वर्णः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इति । शिक्ष्यतेऽनया वर्णोच्चारणमिति शिक्षा । तां प्रकर्षेण वक्ष्यामि = कथयिष्यामि । पाणिनीयं मतं यथेति । पाणिनीयमिति । 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः । तस्येदमित्यर्थनिर्देशः । मतमिति । 'मन ज्ञाने' । पाणिनीयं मतं = ज्ञानं यथा तथा प्रवक्ष्यामि । तैरेव प्रत्याहारैस्तयैव परिभाषया—'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्' इत्यादि, 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति । 'कण्ठ्यावहाविचुयशाः' इति च । तथाऽन्यदप्यनुक्तमत्र प्रयोजनं यत्तद् व्याकरणादेव ग्रहीतव्यं—'मोऽनुस्वारः' इति । ननु व्याकरणे शब्दचिन्ता, अत्रापि सेति, ततश्च व्याकरणेनैव सिद्धत्वादिदमनारभ्यम् ?। सत्यम् । उभयोः शब्दचिन्ता, किन्तु व्याकरणे एतच्चिन्त्यते—'गोशब्दः सास्नादिमत्यर्थे साधुः', इह तु 'गोशब्दो जिह्वामूलेनोच्चारयितव्य' इति भेदः । शास्त्रानुपूर्व्यं तद्विद्यादिति । शास्त्रमिति शासेः करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः । आनुपूर्व्यमिति—गुरुपूर्वक्रमः । तदिति—पाणिनिमतपरामर्शः । तत्=पाणिनिमतमेवास्यापि शिक्षाख्यशास्त्रस्याप्यानुपूर्व्यं=विद्यावंशपरम्परां, जानीयात् । पाणिनिमतस्य यदानुपूर्व्यं=यो गुरुपूर्वक्रमः, स एवास्येत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति—'शङ्करः शाङ्करीं प्रादात्' इत्यादि । यथोक्तं लोकवेदयोरिति । समनार्थमित्यर्थः । तथा च भाष्यकारः—"य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव तेषामर्थाः" इति ॥ १ ॥

ननु वर्णानां तत्तत्स्थानादिबोधनार्थं शिक्षाप्रणयनं मुधैव, 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिव्याकरणप्रसिद्ध्याऽपि तज्ज्ञानसम्भवात्, अनुस्वारविसर्गादिसंज्ञावदित्यत आह—

प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः ।
पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥ २ ॥

प्रसिद्धमपीति । वाचः=वाण्याः । शब्दानामिति यावत् । उच्चारणे = उद्गिरणे । विधिं = प्रकारम् । प्रसिद्धमपि = लोक वेद-प्रसिद्धमपि । 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिरूपेण प्रसिद्धमपि । अबुद्धिभिः = अशिक्षित—मतिभिर्बालैः । प्राथमकल्पिकैः। शैक्षैः। अविज्ञातं=सङ्ग्रहेण अविज्ञातम् । साकल्येनैकत्रैकदेशस्य सर्वस्य प्रमेयस्याऽन्यत्र व्याकरणादौ क्वाऽप्यभावादनायासेन, साकल्येन च बालैरविज्ञातम् । अतः—शब्दार्थं=शब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थम् । व्याकरणशास्त्रे निष्कम्पं प्रवृत्त्यर्थम् । शब्दसाधुत्वार्थं वा । 'समाहारः स्वरितः' इत्यादिव्याकरणशास्त्राणां यथावदर्थबोधनार्थम् । पुनः = व्याकरणे प्रसङ्गात्क्वचन क्वचन भङ्ग्यन्तरेणोक्तमपि पुनः । (इह—) व्यक्तीकरिष्यामि = अस्यां शिक्षायां समुच्चित्य स्पष्टमभिधास्यामि ।

अयं भावः—'समाहारः स्वरितः' 'नीचैरनुदात्तः, 'उच्चैरुदात्तः' इत्यादिव्याकरणसूत्रैः, 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' 'अं' 'अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ' इत्याद्यभियुक्तोक्त्या च स्वरितादीनां, कण्ठादिस्थानानां, 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इत्यादिना प्रयत्नादेश्च कथञ्चिज्ज्ञानेऽपि,व्युत्पित्सूनां सुकुमारमतीनां बालानां साकल्येन-स्वरितादेः कथमुच्चारणं ?, वेदे स्वरितादयः के कीदृशाश्चेत्यादिशङ्कायाः समाधानस्य, प्रतिपत्तव्यस्य विषयस्य ज्ञानं च—न व्याकरणादिना सम्भवति, तत्रास्य विषयस्य प्राधान्येनाऽनिर्देशात्, अत इयं शिक्षा बालानां सौकर्येण सर्वस्य विषयस्य बोधायैव खलु वर्णोच्चारणादिबोधिका मया प्रारभ्यते इति । शिक्षोक्तविषयस्यादौ ज्ञाने सत्येव 'समाहारः स्वरितः' 'मोऽनुस्वारः' 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यादेर्निष्कम्पं ज्ञानं सम्भवति । अन्यथाऽनुस्वारः कः ?, विसर्गपदार्थः कः ?, स्वरितः कथं वेदे निर्दिश्यते? इत्यादि शङ्का-समाधान-ज्ञानस्याऽभावाद्बालानां तत्तत्सूत्रैः संमुग्धाकारमेव ज्ञानं स्यादतः—शब्दार्थं = शब्दशास्त्रेऽनायासेन बालानां प्रवेशायेयं शिक्षाऽऽरभ्यते इति बोधनायोक्तं—शब्दार्थमिति ।

[केचित्तु—"ननु स्वभावत एव वर्णास्तेषु तेषु स्थानेषूच्चार्यन्ते, विद्वांसश्च तद्याथार्थ्येन जानन्त्येवेति व्यर्थमुच्चारणविधिबोधकं शिक्षाशास्त्रमिदमित्यत आह—प्रसिद्धमपीति । शब्दानामयं, शब्दार्थः, तं शब्दार्थं=शब्दोपयोगिस्थानादिविधिं, प्रसिद्धमपि = स्वभावादेव तत्र तत्र कण्ठादिषु वर्णानामुत्पद्यमानत्वात्प्रसिद्धमपि, अबुद्धिभिः = जडैः, अपण्डितैः, अविज्ञातं=तथात्वेनाऽविदितं सन्तम्, पुनः = पुनरपि जडमतिबोधायापि, गिर उच्चारणे विधिं=तत्तत्स्थानेषूत्पत्तिप्रकारं, विधिं =

विधानं, व्यक्तीकरिष्यामि=शिक्षया प्रकटीकरिष्यामि । 'अनेन स्थानेन, अनेन करणेनाऽयं वर्ण उच्चार्यते' इत्येवं स्पष्टतया प्रकटीकरिष्यामी''त्यर्थमाहुः] ।

भाषाटीका—वर्णों के उच्चारण का, और उनके स्थान प्रयत्न आदिका-स्वभावतः, या अन्य प्रकार से भी, कथंचित् बहुत प्रयास से ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु साधारण बुद्धि के छोटे २ बालकों को इस विषय का पूरा २ ज्ञान अन्य ग्रन्थों से, या स्वभाव से होना अत्यन्त कठिन है, और व्याकरणशास्त्र में प्रवेश होने के लिए भी स्थान प्रयत्न आदि का ज्ञान स्पष्टतया पहिले से ही होना आवश्यक है, नहीं तो (स्थान प्रयत्न आदि के, ज्ञान के विना) 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णं' 'समाहारः स्वरितः' इत्यादि व्याकरण के सूत्रों का पूरा २ स्पष्टरूप से अर्थ समझ में आना ही कठिन हो जाएगा, क्योंकि—आस्य (स्थान) और प्रयत्न क्या वस्तु हैं ?, इसका ज्ञान हुए विना 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इस सूत्र का अर्थ कैसे समझ में आवेगा ?, और सूत्रार्थ समझे विना 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र से 'दैत्यारिः' 'श्रीशः' आदि कैसे बना सकेगा ?। फलतः शब्दशास्त्र (व्याकरण) का ज्ञान अपूर्ण रहेगा—इसलिए प्रसिद्ध भी वर्णोच्चारणविधिको, एवं स्थान प्रयत्नों को—मैं इस शिक्षा द्वारा स्पष्ट रूप से एकही स्थान में एकत्र करके कहता हूं। इस प्रकार इससे बालकों को वर्णों के उच्चारण आदि का ज्ञान विना परिश्रम हो सकेगा ॥२॥

[पञ्जिकाभाष्यं] नन्वकारादयो वर्णाः स्वस्थानेनैवोच्चार्यन्ते परस्थाननिराकाङ्क्षत्वात्, किमर्थः शास्त्रारम्भ—इत्याशङ्क्याह—

प्रसिद्धमिति । अबुद्धिभिर्बुद्धिहीनैः, प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातम्=अनवगतं, पुनः=पश्चाद्, व्यक्तीकरिष्यामि—स्फुटीकरिष्यामि । किम् ? । वाच उच्चारणे विधिं, वाचो गिरस्तदुच्चारणे=उद्गिरणे, विधिं=विधानम् । ननु 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इति स्मर्यते, न चात्राऽत्यन्तमप्राप्तिः ?। उक्तं च अधस्तात्—'अकारादयो वर्णाः स्वस्वस्थानेनैवोच्चार्यन्ते' इति । उच्यते । यद्यपि स्वस्थानस्थिता उच्चार्यन्ते, तथाप्यप्राप्तोऽशः कथनीयोऽनुप्रदानादिः, एतदर्थो विधिशब्दः ॥ २ ॥

'वाच उच्चारणे विधिं व्यक्तीकरिष्यामी' त्युक्तं, तत्र वर्णैरेव स्फुटमुच्चारणं सम्भवतीत्यादौ सम्भवतां वर्णानामेव स्वरूपं प्रदर्शयति—

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते, संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥ ३ ॥

त्रिषष्टिरिति । प्रकृतेः=स्वभावत एवागतं, प्रकृतेरिदं वा—प्राकृतं, तस्मिन्—

प्राकृते=अपभ्रंशादिरूपायां प्राकृतभाषायां। 'प्राकृतभाषैव प्रकृतिः, आपामरं स्वभावतस्तस्या उच्चार्यमाणत्वात्, ततः संस्कृत्य प्रकाशिता च—संस्कृतभाषे'ति मते इदम्।

'संस्कृतभाषैव प्रकृति'रिति मते च—प्रकृतेः = संस्कृतभाषात आगतं, प्रकृतौ भवं वा—प्राकृतम्=अपभ्रंशादि भाषान्तरम्। तस्मिन्—प्राकृते। संस्कृतं—सर्वभाषाणां प्रकृतिभूतं. तस्मिन्—संस्कृते चापि=संस्कृतभाषायामपीत्यर्थः। स्वयम्भुवा=ब्रह्मणा। स्वयं प्रोक्ताः = स्वयमुक्ताः। त्र्यधिका षष्टिः—त्रिषष्टिः, चतुःषष्टिर्वा = चतुरधिका षष्टिर्वा, वर्णाः=अक्षराणि। सम्भवतः = सम्भवाभिप्रायेण। मताः = इष्टाः। 'शम्भुमते मताः' इत्यपि पाठः क्वचिद् दृश्यते। तत्र—शम्भुमते=शिवमते। शिवानुसारिण्यस्मिन् पाणिनीये मते इति यावत्। मताः = अभिमताः। संस्कृतभाषातः प्राकृताऽपभ्रंशादिभाषोद्भवश्चाभिधातृवैगुण्यादेवेति मन्तव्यम्। अत एवोक्तं हरिणा—'पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु' इति।

सरलोऽर्थः—संस्कृतभाषायां, तदपभ्रंशभूतासु = प्राकृतादिनानाविधासु भाषासु च सम्भवन्तस्त्रिषष्टिः (६३), चतुषष्टिर्वा (६४) वर्णा एवाऽस्माकं पाणिनीयानां मतेऽभिमताः, नाऽतोऽधिका वर्णाः सम्भवन्ति, न चातो न्यूना अपि वर्णा अस्माकं मते सन्ति, इयतामेव वर्णानां ब्रह्मणा स्वयमुक्तत्वात्। इतोऽधिकं वर्णास्तु यत्र सन्ति, ते स्वेच्छाकल्पिता एव, न ब्रह्मणा प्रोक्ता इति गानशास्त्रादौ, क्वचिदितोऽतिरिक्तानां ह्रस्वैकारादीनां वर्णानां सत्त्वेऽपि, न ते ब्रह्मणा स्वयं प्रोक्ता इति ते वर्णा वैयाकरणैर्नादर्त्तव्या इति भावः। 'स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा' इत्युक्तिश्च—'एते एव वर्णा, नान्ये' इत्यत्र प्रमाणप्रदर्शनार्थैवेति ध्येयम्।

भाषाटीका—संस्कृत भाषामें, और संस्कृत भाषा से ही निकली हुई नाना प्रकार की—अपभ्रंश, प्राकृत, शूरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, शकारभाषा, भूतभाषा—आदि भाषाओं में भी ६३ या ६४ ही वर्ण ही संभव हो सकते हैं, इनसे अधिक वर्ण संभव ही नहीं हैं। और ब्रह्माजी ने भी इतने ही वर्ण (तरेसठ ६३ या चौसठ ६४ ही वर्ण) अपने मुख से युग के आदि में कहे हैं। अतः महेश्वरोक्त पाणिनीय मतके अनुयायियों को ६३ या ६४ ही वर्ण (अक्षर) अभीष्ट हैं। इससे ज्यादा या कम नहीं। अतः 'क्ष' 'ज्ञ' आदि वर्णोंको जो कोई अलग मानते हैं, वह पाणिनीयों को अभिमत नहीं हैं। किन्तु 'क-ष' मिलनेसे 'क्ष'की उत्पत्ति, 'ज-ञ'से

१ 'सम्भवतो मताः' इति भाष्यानुसारी पाठः।

१'ञ' की उत्पत्ति हो जाती है। ये कोई वर्णान्तर नहीं है। इसी प्रकार सामवेद की शाखा में (सात्यमुग्रि और राणायनीयशाखा में) ह्रस्व एकार, ह्रस्व ओकार भी माने जाते हैं, वे भी पाणिनीयमतानुसारी वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं हैं ॥ ३ ॥

[पञ्जिकाभाष्यं—] वागुच्चारणं च वर्णैः क्रियते, कति संख्यास्ते इत्यत आह— त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वेति। सम्भवत इति। सम्भूतेः सकाशात्, मताः=ज्ञाताः। वर्णो- वृणोतेः। अत्र 'यथोक्तं लोकवेदयोः' इत्युक्तम्। तत्र किं लोके संस्कृतविषया एव वर्णा, उत सर्वभाषाविषया इत्याह—प्राकृते संस्कृते चापीति। अपिशब्दादप- भ्रंशादिष्वपि ये वर्णाः सम्भूतेर्जाताः सन्तः तेऽपि। स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवेति। ब्रह्मणा = स्वयमेव—हरेण, प्रकर्षेणोच्चारिताः ॥ ३ ॥

त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णा के इत्याकाङ्क्षायामाह—

स्वरा विंशतिरेकश्च[२१] स्पर्शानां पञ्चविंशतिः[२५]।
यादयश्च[८] स्मृता ह्यष्टौ, [४]चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥ ४ ॥
अनुस्वारो[२], विसर्गश्च[२], ≍क≍पौ[३-४] चापि पराश्रितौ[२]।
दुःस्पृष्टश्चेति[५] विज्ञेयो, ऌकारः [६]प्लुत एव च ॥ ५ ॥

स्वरा इति। 'अचः स्वराः' इत्युक्ताः, स्वयमेव = अन्यानपेक्षयैव, राजन्ते= प्रकाशन्ते, अभिव्यज्यन्ते इति—स्वराः = अचः। यथा हलामुच्चारणेऽचामपेक्षा भवति, 'नह्यन्तरेणाऽचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवती' ति भाष्यात्, न तथाऽचा- मुच्चारणेऽन्यस्य कस्यापि वर्णस्यापेक्षाऽस्तीति—तेषां स्वयमेव राजमानत्वं स्पष्टम्। विंशतिरेकश्च = एकविंशतिः।

---

१ ननु 'ऋति ऋ वा' 'ऌति ऌ वा' इति वार्त्तिकविधेययोरीषत्स्पृष्टयोर्ऋ- ऌवर्णयोरपि वैयाकरणानामभिप्रेतत्वात्, 'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वे'ति परिगणनं न्यूनमिति चेन्न। विवृतऋकारस्यैवाऽत्र ग्रहणात्। किञ्च—तयोर्वार्त्तिकयोः कात्यायनोक्तत्वा- त्पाणिनिमते तावत्सङ्ख्याकवर्णाङ्गीकारे बाधकाऽभावाच्च। यथोत्तरं मुनीनां प्रामा- ण्यात्तयोरप्यङ्गीकारे बाधकाऽभावाच्च। उपलक्षणपरतया व्याख्यानस्य सम्भवाच्च। एवं च—पाणिनिमते त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा, वार्त्तिककारमते पञ्चषष्टिः षट्षष्टिर्वा वर्णा इति वक्तुं शक्यमिति ध्येयम्। २ 'पराश्रयौ' इति भाष्यानुसारि पाठान्तरं।

अ इ उ ऋ इत्येते ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाद् द्वादश। ह्रस्व ऌकारः। —इति त्रयोदश। तथा हि—अ आ आ ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ॠ ॠ ३। ह्रस्वश्च ऌकार—इति त्रयोदश (१३)। ए ए ३, ओ ओ ३, ऐ ऐ ३, औ औ ३–इति दीर्घप्लुतभेदादष्टौ (८)। तदेवं सङ्कलनया एकविंशतिः (१३+८=२१) स्वराः। यद्यपि सिद्धान्तकौमुद्याम्–'ऌवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावा' दित्युक्त्या ह्रस्वप्लुतभेदवत्त्वम् ऌकारस्याऽस्तीति गम्यते, तथाऽपि कैश्चित् ऌकारस्य प्लुतत्वं नाऽङ्गीक्रियते इति तन्मताश्रयेण 'एकविंशतिरच' इत्युक्तम्। ऌकारस्य मतान्तरेण प्लुतत्वं चाऽग्रे स्वयमेव वक्ष्यति—'ऌकारः प्लुत एव च' (५ श्लो०) इति। 'ऌकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः' इति च याज्ञवल्क्यशिक्षायां (२३ श्लोके)। स्वराणामेकविंशतित्वं वर्णरत्नदीपिकायामपि—

'ऋपर्यन्ताः स्वरास्त्रेधा, ऌकारो ह्रस्व एव च।
सन्ध्यक्षराण्यह्रस्वानि, ते चैवमेकविंशतिः॥' इति।

स्पर्शानां—ककारादि-मावसानानां पञ्चविंशतिः (२५)।

'कादयो मावसानाः स्पर्शा' इत्युक्तेः कादीनां पञ्चविंशतेः स्पर्शत्वम्। यादयश्च अष्टौ हि स्मृताः = य र ल व, श ष स ह–इत्यष्टौ (८) प्राचीनैरन्तस्थात्वेनोष्मत्वेन च कथिताः। यमाश्च चत्वारः स्मृताः = 'चत्वारो हि यमा' इति प्राचीनैः स्वयम्भूशङ्करादिभिरुक्ताः।

यमश्च–वर्गेष्वाद्यानां क ख ग घादीनां चतुर्णां, पञ्चमे ङ ञ ण नादौ परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः। तदुक्तं नारदीयशिक्षायाम्—

'अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो, ह्यन्तश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत्सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥' इति।

तथा च—'पलिक्क्नी' 'चख्ख्नतुः' 'अग्ग्निः' 'घ्घ्नन्ति' इत्यादौ क-ख-गादिसदृशो वर्णो यम इति ध्येयम्।

न चैवं 'चत्वारो यमाः' इत्यनुपपन्नं, पञ्चसु वर्गेषु चतुर्णां चतुर्णां वर्णानां पञ्चमे परे यमत्वेन 'विंशतिर्यमा' इति वक्तुमुचितमिति वाच्यं, 'प्रथमो यमः', 'द्वितीयो यमः', 'तृतीयो यमः', 'चतुर्थो यमः'–इत्येवं भेदेन विभागमाश्रित्य 'चत्वारश्च यमाः' इत्युक्तेः। वस्तुतस्तु-'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' 'आत्मा' इत्यादौ वेदे तकारात्परस्यापि यमस्य तकारस्वरूपस्याऽपाठकत्वाद् स्वरूपस्यैव

घोपलम्भाच्चत्वार एव कवर्गीयाः कखगादयो यमाः, अत एव-'कुं खुं गुं घुं इति चत्वारो यमा' इति न्यासकृद्भिश्चत्वार एव यमा दर्शिता-इति ध्येयम्। येषान्तु वेदशाखासु 'पत्नी' त्येवं तकाररूप एव कदाचिद्यमः पठ्यते, तन्मते 'विंशतिर्यमा' इत्यस्ति, तथाऽपि प्रथमत्व-द्वितीयत्वादिना विभागाच्चत्वारश्च यमा इत्युपपद्यत एव। इत्थं सङ्कलनया अष्टपञ्चाशत् (५८) वर्णा जाताः।

अनुस्वारः = 'अं' 'आं इं ईं' इति प्रसिद्धः। विसर्गः-'अः' 'आः' 'इः, 'ईः' इति प्रसिद्धः। ✕क ✕प इति च, पराश्रितौ=पराश्रयौ, ककारपकाराश्रयौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ द्वौ। यद्यपि खफाश्रयावपि ताविति सङ्ख्याधिक्यापत्तिस्तथाऽपि पराश्रयत्वेन विभजनाद् द्वित्वमेवानयोरिति नाऽऽधिक्यम्। 'पराश्रयौ' 'पराश्रितौ' इत्युभयथाऽत्र पाठो दृश्यते, अर्थस्तूभयत्र तुल्य एव। [1]द्विःस्पृष्टः = ळकारः। तदुच्चारणे हि जिह्वाया अग्रेऽन्ते च द्विःस्पर्शस्यानुभूयमानत्वात्। इत्थं-त्रिषष्टिर्वर्णा जाताः। केचन ऌकारं प्लुतमपि मन्यन्ते। तदुक्तं सिद्धान्तकौमुद्याम्-ऌकारस्य द्वादश, तस्य (विवृतऌकारस्य) दीर्घाऽभावा' दिति। तन्मते चतुःषष्टिर्वर्णाः। तदुक्तम्—ऌकारः प्लुत एव चेति। क्वचित्-'दुःस्पृष्ट' इति पाठः, तत्रापि दुःस्पृष्टो ळकार एव। तदुच्चारणे कठोरतया जिह्वाताल्सङ्घर्षादेव च तस्य दुःस्पृष्टतेति ध्येयम् ॥४-५॥

भाषाटीका—तरेसठ६३तथा मतान्तर से चौसठ६४ वर्ण (अक्षर) इस प्रकार हैं—२१ स्वर = अच्। २५ स्पर्श (क—म)। ८ यकार आदि (य—ह)।

४ यम (क वर्ग आदि पाँच वर्गों के पहिले के चार अक्षरों से, पञ्चम अक्षर (ङ ञ ण न म) परे रहने पर पूर्ववर्ण के समान ही अक्षर वेदमें यम नाम से प्रसिद्ध है)।

१ अनुस्वार—अं। १ विसर्ग—अः।

१ ✕ क, १ ✕ प।

१ ळ,—ये ६३ वर्ण हुए।

जो ऌकार को प्लुत भी मानते हैं, उनके मत से १ वर्ण और बढ़ जानेसे ६४ वर्ण हुए।

२१ स्वर—अ आ आ ३, इ ई ई ३, उ ऊ ऊ ३, ऋ ॠ ॠ ३, ऌ, ए ए ३, ओ ओ ३, ऐ ऐ ३, औ औ ३, । २१।

---

१ तदुक्तं वर्णरत्नदीपिकायां—
'द्विःस्पृष्टता च विज्ञेया डढयोः स्वरमध्ययोः।
पदकाले वियुज्यन्ते, द्विःस्पृष्टो न भवेत्तदा॥' इति।

२५ स्पर्श—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म ॥ २५ ॥

८ यादि—य र ल व (अन्तस्थ्), श ष स ह (ऊष्म) ॥ ८ ॥

४ यम—कुं खुं गुं घुं—ये चार यम हैं ॥ ४ ॥

१ अनुस्वार—'अं' ॥ १ ॥

१ विसर्ग—'अः' ॥ १ ॥

१ जिह्वामूलीय—≍ क (≍ ख) ॥ १ ॥

१ उपध्मानीय—≍ प (≍ फ) ॥ १ ॥

१ द्विःस्पृष्ट[1]—ळ । ये तरेसठ (६३) वर्ण हुए ।

६३ जोड़ ।

मतान्तर से—१ प्लुत-लृ ३—अधिक होने से—६४वर्ण हुए ।

६३ पूर्वोक्त वर्ण ।

१ लृ ३ (प्लुत लृकार) ।

कुलवर्ण—६४ जोड़ ।

यमों को कोई बीस कहते हैं, क्योंकि पाँच वर्गों के पहिले के ४ अक्षरों से ही पञ्चम अक्षर (ङ ञ ण न म) परे रहते (पूर्व सदृश अक्षर का) यम बनता है । अतः ये २० होते हैं । परन्तु यहाँ वर्गका–प्रथम यम, द्वितीय यम, तृतीययम, और चतुर्थ यम इस प्रकार भेद मानकर ४ ही यम कहे गए हैं । कोई कुं खुं गुं घुं—इन ४ का दो यम मानते हैं ॥ ४–५ ॥

[पञ्जिकाभाष्यं] कथं ते त्रिषष्टिः कथं वा चतुःषष्टिरित्याशङ्क्याह—

स्वरा विंशतिरेकश्चेति । स्वरा इति–'स्वृ शब्दोपतापयोः' स्वर्यते । शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच् प्रत्ययः । कथं ते एकविंशतिः ? । ततश्चतुरो यथास्मृति विवृणोमि–अ इ उ ऋ एते चत्वारो ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन द्वादश । 'लृकारस्य दीर्घादयो न सन्ती'ति स्मरणात् ह्रस्व एवोपदिश्यते, अत एते त्रयोदश । ए ऐ ओ औ सन्ध्यक्षराणि, 'सन्ध्यक्षराणामपि ह्रस्वा न सन्ती'ति स्मरणात् दीर्घप्लुता एव गृह्यन्ते, ते एतेऽष्टौ । पूर्वैस्त्रयोदशभिः सहैकविंशतिः । स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।

१ अच्द्वय के मध्यस्थित डकार और ढकारको ऋग्वेद में 'ळ' कार होता है । उदाहरण—अग्निमीडे–'अग्निमीळे' ।

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। जिह्वामूलतालुमूर्द्धदन्तोष्ठादिभिः परस्परं स्पर्शैरभिनिष्पत्य आविर्भवन्तीति स्पर्शाः। पूर्वयैकविंशत्या सह षट्चत्वारिंशत्। यादयश्च स्मृता ह्यष्टाविति। यकारादयश्च अष्टौ–य र ल व श ष स ह इति। अत्र आद्याश्चत्वारोऽन्तःस्थसञ्ज्ञाः, उपरितना–ऊष्माणः। पूर्वया षट्चत्वारिंशता सह चतुःपञ्चाशत्। चत्वारश्च यमाः स्मृता इति। यच्छन्तीति यमाः, स्वयमेवोपरमेरन्। के ते यमाः?। लोके-कुं खुं गुं घुं इति। "अनन्त्याऽन्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः" इत्यौदव्रजिः। तथा च—

'ह्रस्वादिभेदैश्चत्वारः प्रथमा द्वादश स्मृताः।
लृकारो ह्रस्व एवैचोऽष्टौ, स्वरा एकविंशतिः॥
पञ्चविंशतिरष्टाङ्घिः–स्पर्शाः स्युर्यादयो यमाः।
अनुस्वारो, विसर्गश्च,≍क≍पौ, प्लुत लृकारकः॥
त्रिषष्टिरेवं वर्णाः स्युर्ह्रस्वदीर्घादिभेदतः।
अनुस्वारद्वयाद्वर्णाश्चतुःषष्टिरितीरिताः॥

तथा च नारदः—

'अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो, ह्यन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥
वर्गाऽन्त्यान् शषसैः सार्द्धमन्तस्थैर्वापि संयुतान्।
दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते आदेशिकमिवाऽध्वगाः'॥

–इति नारदौदव्रज्योर्मतेन 'यमो वर्णागम' इति विधीयते। अस्मात् शास्त्रात् 'चत्वारश्च यमाः स्मृताः' इति वर्णान्तरत्वेनोपदेशः, संयोगशास्त्रात्। 'अथ चतुरक्षराणामुदाहरण'मिति प्रकृत्य–अग्ग्निरिति यमो, गकारौ द्वौ, नकार इकारश्चेति। अन्ये तु यमं वर्णापत्तिं मन्यन्ते। तथा च शौनकः—"स्पर्शा यमाननुनासिकान् स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु" इति। पूर्वया चतुःपञ्चाशता सहाष्टपञ्चाशत्॥४॥

अनुस्वारो विसर्गश्चेति। स्वरमनु भवतीत्यनुस्वारः, अ-नु=अकारानुगमेनानुस्वारः। वक्ष्यति च–'दन्तमूल्यः स्वरानुग'इति। विसर्ग इति। विविधं सृज्यते=क्षिप्यते इति–विसर्गः। ≍क≍पौ चापि पराश्रयाविति। पराश्रयाविति—परौ=ककारपकारौ, आश्रयः=स्थानं ययोस्तौ—पराश्रयौ। तथा च वक्ष्यति—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः' इति।

अपरः पाठः—'≍क≍पावपि परौ स्मृतौ'। अनुस्वारविसर्गयोः परावित्यर्थः। अपरोऽपि पाठः—'≍क≍पौ चापि कृपाश्रयौ'। ककारपकारौ आश्रयः स्थानं ययोस्तौ 'कृपाश्रयौ'। चशब्दादनुस्वारविसर्जनीयावपि पराश्रयौ। दुःस्पृष्टश्चेतीति। ईषत्स्पृष्टो वर्णधर्मो, न वर्णान्तरम्। वक्ष्यति च—'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्' इति। तथा चौदव्रजिः–'तत्र स्पृष्टं प्रयतनं करणं स्पर्शानाम्' 'दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम्' इति। यण्भक्तिश्च लृकारो विद्यते। अतो लृकारो दुःस्पृष्टधर्मा। चशब्दात् ऋकारः। इतिशब्दः पादपूरणार्थः। लृकार इति। लृवर्णात् कारप्रत्ययः।

प्लुत एव चेति। लृकारस्य (विवृतस्य) दीर्घादयो न सन्तीत्यधस्तात्परमतमुपन्यस्तं। स्वमतं चाह—लृकारः प्लुत एव चेति। त्रिमात्रः, चशब्दाद्ध्रस्वश्च। वर्णानां प्रयत्नमुपरिष्टाद्वक्ष्यत्येव, किमर्थमप्रस्तुतः प्रयत्नः कथ्यते ?। उच्यते, प्लुतविधानार्थं तावल्लृकार उच्चारयितव्यः, उच्चारिते च लृकारे लाघवार्थमप्रस्तुतोऽपि प्रयत्न उच्चारितः–दुस्पृष्टश्चेति। अनुस्वारादयः प्लुतान्ताः पञ्च। पूर्वैरष्टपञ्चाशद्भिः सह त्रिषष्टिः। ननु चतुःषष्टिः कथम् ?। अनुस्वारौ विसर्गश्चेति पाठान्तरात्। कथं पुनरनुस्वारद्वयं ?। ह्रस्वदीर्घभेदेनेति ब्रूमः। तथा चौदव्रजिः—"अनुस्वारावं, आं,–इत्यनुस्वारौ ह्रस्वदीर्घौ दीर्घह्रस्वौ वर्णौ–" इति। अत एव चतुःषष्टिः ॥५॥

एवं वर्णानां सङ्ख्यामभिधाय वर्णोत्पत्तिप्रकारमभिधत्ते—

आत्मा बुद्ध्या [1]समेत्याऽर्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाऽग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ ॥

आत्मेति। आत्मा=[1]अन्तःकरणं कर्तृभूतं। साङ्ख्यमतेनेदं। वेदान्तमते तु–जीवो वा कर्त्ता। (साङ्ख्यमते–अन्तःकरणाख्य आत्मा, वेदान्तिनये तु जीव एव कर्त्ता)। अर्थान् = अनुभवे नष्टेऽपि, सूक्ष्मवासना–(संस्कार)–रूपेण स्वस्मिन् समवस्थितान् = स्वगतान्–घट-पटादिरूपान्, अर्थान् = पदार्थान्। संस्कारस्यापि

---

१ 'समर्थ्याऽर्थान्' इत्यपि पाठः।

१ परमात्मनस्तु न वर्णोच्चारणे कर्तृत्वं सम्भवति, शुद्धस्य तस्य निर्धर्मकत्वेन कर्तृत्वाऽसम्भवात्। अन्तःकरणविशिष्टस्य तस्य कर्तृत्वादिधर्मसम्बन्धसम्भवेऽपि, धर्मस्य अन्तःकरणस्यैव तत्स्वीकारात्। विशिष्टे कर्तृत्वादेर्विशेषणेऽन्तःकरणे एव पर्यवसानात्।

मनःपरिणामविशेषरूपतया, परिणाम—परिणामिनोश्चाभेदाद्घटपटादिविषयाणां संस्कार विषयत्वे 'स्वविषयकसंस्कारपरिणामित्व' सम्बन्धेन (विषयाणाम्) अन्तःकरण-गतत्वमिति । बुद्ध्या=अन्तःकरणपरिणामविशेषरूपया स्वसमवेतया बुद्ध्या-ख्यया स्ववृत्त्या । समेत्य=एकीकृत्य । एकबुद्धिविषयान् कृत्वा । समूहालम्बनात्म-कैकवृत्ति—(बुद्धि)—विषयान् विधायेति यावत् । 'समर्थ्याऽर्था'निति पाठे—समर्थ्य = सम्यग् बुद्ध्वेत्यर्थः । विवक्षया = वक्तुमिच्छया करणभूतया । स्वस्मिन्संस्कार-रूपेण स्थितानां घटपटादिपदार्थानां बुबोधयिषया (= बोधनेच्छया) । घटपटादि-पदार्थबोधनेच्छयेति यावत् । मनःपरिणामविशेषो हि—इच्छा । मनः=अन्तःकरण-परिणामविशेषरूपं, मननात्मकव्यापारकारकं मनः—कर्मभूतं । युङ्क्ते=स्ववृत्ति-विशेषया तादृशेच्छया योजयति । इच्छया (करणभूतया), यत्नेन च युक्तं मनः करोति । युजिरत्राऽन्तर्भावितण्यर्थो बोध्यः । मनः=बोधनेच्छाजन्य यत्न-विशिष्टं तन्मनश्च कर्तृभूतं— । कायाग्निं = जठरस्थितमग्निम् । आहन्ति = सन्धुक्षयति । शब्दजनकं संयोगविशेषमग्नौ जनयति । (जाठराग्निं ताडयति । तं— धमति) । सः=शब्दप्रयोगच्छयोत्पन्नयत्नवन्मनोऽभिहतोऽग्निः । आहतो जठरानलः । मारुतं = नाभिस्थं समानवायुम् । हृदयस्थं प्राणवायुमित्यन्ये । प्रेरयति = उदीरयति । उल्लासयति ॥ ६ ॥

भाषाटीका—वेदान्तिमतमें—जीवात्मा (साङ्ख्यमतमें-मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार रूप—अन्तःकरण—) अपनी वृत्तिविशेषरूप बुद्धि से, वासनारूप से स्थितस्वगत घट-पट आदि पदार्थों को सङ्कलन करके, उनके बोधन की इच्छा से—मनको युक्त (यत्नशाली) करता है, और उस बोधनेच्छा से युक्त (यत्नशाली) हुआ वह मन भी—नाभि से नीचे मणिपूर चक्रमें स्थित जाठराग्निको आघात पहुंचाता है। और इच्छा युक्त उस मन से आहत हुआ वह जाठराग्नि—नाभिस्थित समान वायु को प्रेरित करता है। [कोई प्राण वायु को ही (नाभि से उत्पन्न होने के कारण) नाभिस्थ मानकर उसका ही मन से आघात मानते हैं। प्राण वायु का उद्भव नाभि से ही होता है। वह प्राणवायु हृदय में आकर अभिव्यक्त होता है, अतएव—प्राणवायु का हृदय ही स्थान माना गया है, । 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः । उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः'] इति ॥६॥

[पञ्जिकाभाष्यं]

अथ वर्णसंङ्ख्यापरिज्ञानोत्तरकालं चिन्त्यते,क एषामुच्चारयिता;कथं चोच्चारयति, केन क्रमेण चेत्याह—

आत्मेति। आत्मा-शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तः। कथं पुनरेतदवगम्यते ? यथा शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्त आत्मा उच्यते, द्रष्टृत्वात्। द्रष्टा हि दृश्यादिव्यतिरिक्तो भवति, प्रयोजकत्वात्। 'बुद्ध्यादीनि कर्तृप्रयोज्यानि, करणत्वात् कुठारवत्' इति। न्यायात्, श्रुतेश्च। न्यायस्तावत्—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति स्वर्गादिफलसाधनानि कर्माणि श्रूयन्ते। स्वर्गश्च वायुशरीरोपभोग्यः, तस्मात् व्यतिरिक्त आत्मा शरीरादेः। श्रुतेश्च–"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति। शरीरापक्रमणाय शरीरादिव्यतिरिक्त आत्मा। छान्दोग्यश्रुतेश्च–"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतीरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति। क एषामुच्चारयितेति पृष्टे तस्योत्तरं दत्तम्-आत्मेति। कथमुच्चारयति, केन क्रमेणेति प्रश्नद्वयस्योत्तरं दीयते—स आत्मा बुद्ध्या सहाऽर्थान् बाह्यान्,समर्थ्य= सम्यगवगम्य। अर्थप्रत्यायनाय यदि शब्दा उच्चार्यन्ते तदा मनो युङ्क्ते विवक्षया= वक्तुमिच्छा विवक्षा, तया। तच्च मनो नियुङ्क्ते आत्मा। मनः कायाग्निमाहन्तीति। तच्च मनो नियुक्तं सत् कायाग्निमाहन्ति। कायाग्निं=शरीराग्निम्, आभिमुख्येनाऽऽहन्ति। स प्रेरयति मारुतमिति। सोऽग्निरभिहतः सन्मारुतं = वायुं प्रेरयति ॥ ६ ॥

जाठराग्निप्रेरितस्य मूर्द्धपर्यन्तगामिनो वायोः कार्याणि दर्शयति—

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥ ७ ॥

मारुत इति। मारुतः=स कायाग्निप्रेरितो वायुः। समानो वा, प्राणो वा। उरसि = हृदयप्रदेशे। हृदयाकाशे। चरन् = भ्रमन् सन्। मन्द्रं = मेघादिध्वनिवद् गम्भीरं (स्वरं)। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः। प्रातःसवने युज्यते इति प्रातःसवनयोगः, तं—प्रातःसवनयोगं=ज्योतिष्टोमाद्याख्यासु सप्तसु सोमसंस्थासु प्रातःकालनिर्वर्त्यप्रातःसवनाख्यसोमाभिषवकर्मणि विनियुज्यमानेषु मन्त्रेषूपयुज्यमानं–हृदयस्थं। गायन्तं त्रायते इति गायत्री, गायत्र्येव–गायत्रं (स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण्)=गायत्रीनाम्ना प्रसिद्धं। छन्द आश्रितं=गायत्रीछन्दोऽन्वितम्। तं = प्रसिद्धं। स्वरं = गम्भीरं ध्वनिम्। जनयति = उत्पादयति। अग्निष्टोमाख्ये सोमयागे सोमवल्लीकुट्टने (सोमाभिषवे) प्रातर्मध्याह्नसायाह्नाख्यास्त्रयः कालाः,

तत्रत्यं च सोमाभिषवणं कालभेदेन—'प्रातःसवनं,' 'माध्यन्दिनसवनं', 'सायंसवन'-मित्युच्यते । तत्र प्रातःसवनकर्मणि मन्त्रा गम्भीरेण, मन्द्राख्येन हृद्देशे ध्वनता स्वरेण पठ्यन्ते इति तत्त्वम् । त्रयश्च स्वराः—क्लो, मन्द्र—स्तार इति । अयमाशयः—

'उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये ।
'सवनान्याहुरेतानि'—

—इति नारदीयशिक्षोक्तेरुरआदि-(हृदयादि)—स्थानानां त्रयाणां क्रमेण 'प्रातः-सवन' 'माध्यन्दिनसवन' 'तृतीयसवने' ति ('तार्तीयसवनेति') नामानि । सवनं=हृदयादिस्थानमिति यावत् । तत्सम्बन्धाच्च मन्द्र—मध्य—तारस्वराणां (ध्वनीनाम्) अपि 'सवन'मितिनामधेयमिति । अग्निष्टोमीयसोमाभिषवण-विनियुक्तमन्त्र-सम्बन्धाच्च मन्द्रादिध्वनयोऽपि 'सवन'पदेनोच्यन्ते इति तु तत्त्वम् ।

भाषाटीका—जाठराग्नि से ऊपर की ओर प्रेरित हुआ वह वायु हृदयदेश में आकर भ्रमण करता हुआ मेघवत् गम्भीर ध्वनि को (नाद को) प्रकट करता है । वही ध्वनि अग्निष्टोम यज्ञ में सोमलता को कूटकर उसके रस के निकालने के समय पढे जाने वाले मन्त्रों के पाठ में उपयोग में आता है, और उस स्वर का गायत्री छन्द है । और उस गम्भीर ध्वनि को, तथा उस ध्वनि के स्थान—(हृदय देश) को भी विद्वान् लोग 'प्रातःसवन' कहते हैं ॥ ७ ॥

[प० भा०] मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरमिति । मारुतो—वायुरुरसि चरन्मन्द्र स्वरमुत्पादयति । मन्द्रमिति मन्दे रक् प्रत्ययः । प्रातस्सवनयोगमिति । प्रातःसवनेन सह योगोऽस्येति प्रातःसवनयोगस्तम् । तथा च ऐतरेयब्राह्मणे—'अथ मन्द्रं तर्रति, तस्मात् मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेत्' इति । गायत्रं छन्दोऽस्याश्रयः । गायत्रं—गायतेः स्तुतिकर्मणः । आच्छादयति—छन्दः ॥ ७ ॥

कण्ठे [1]माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्तीयसवनं [2]शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥ ८ ॥

कण्ठइति । 'मारुत' इति, 'चरन्' इति,'स्वर'मिति,'जनयती'ति चानुवर्त्तते । पुनः स एव मारुतः—पश्चात्—कण्ठे = कण्ठदेशे । चरन् = भ्रमन् सन् । माध्यन्दिन-

१. 'माध्यन्दिनयुजम्' इति पाठो भवेत् 'माध्यन्दिनयोग' मित्यर्थे छान्दसो वाऽयं प्रयोगः स्यात् । २. अत्र 'शीर्षण्यम्' इत्येव सर्वत्र पाठो दृश्यते । परं मन्ये स च प्रमादाप्रसिद्धो भवेत् । 'शीर्षण्यो जागतानुगम्' इत्येव पाठो भाति । छान्दसं वा क्लीवत्वं ।

युगं = मध्यन्दिननिर्वर्त्य-सवनकर्म-साधनमन्त्रोपयोगिनं । त्रिष्टुबेव—त्रैष्टुभं, त्रैष्टुभमनुगच्छतीति—त्रैष्टुभानुगः, तं=त्रैष्टुभानुगं = त्रिष्टुप्छन्दआश्रितम् । मध्यमं = किञ्चिदुच्चं । स्वरं=ध्वनिं । जनयति = उद्भावयति ।

पुनः–ऊर्ध्वं प्रवृत्तः स एव मारुतः—शिरसे हितः—शीर्षण्यः = शिरोवर्ती भूत्वा । (शिरसि चरन् सन्) तृतीयसवनस्येमं—तार्तीय—सवनं=तृतीयसवनोपयुज्यमानमन्त्रपाठोपयोगिनं । जगत्येव जागतं, तदनुगच्छतीति जागतानुगं = जगतीच्छन्दआश्रितम् । ['शीर्षण्य'मिति पाठेतु–शीर्षण्यं = शिरोभवं] । तारम् = अत्युच्चं, मयूरस्वरानुकारिणं । स्वरं=ध्वनिं । जनयति=उत्पादयति ।

भाषाटीका—वही वायु जब कण्ठ देश में आकर भ्रमण करता है, तब माध्यन्दिनसवन–कर्मोपयोगी मन्त्रों के पाठ में उपयोग में आने वाले, त्रिष्टुप्छन्द से युक्त, मध्यम ध्वनि को (न मन्द, न तेज–ऐसे ध्वनि को) उत्पन्न करता है। और वही वायु फिर शिरोभाग में जाकर भ्रमण करता हुआ जगती छन्द से युक्त, तृतीय सवन के मन्त्रों के पाठ में उपयोग में आने वाले, मयूर आदि के स्वर के समानही अत्यन्त तीव्रस्वरको उत्पन्न करता है, और वर्णोंकोभी उत्पन्न करता है।८।

[प० भा०] कण्ठ इति । मारुत इति वर्तते । सवनं, छन्दः, स्वरं, चरन्निति च । वर्णान् जनयतीति यावत् । कण्ठे चरन्वायुर्मध्यमं स्वरं जनयति । कण्ठे इति। 'कणेष्ठः' (उ.सू१०३) इति ठप्रत्ययः । माध्यन्दिनंसवनं युनक्तीति माध्यन्दिनसवनभाजं । त्रिष्टुपछन्दोऽनुगामिनम् । तारमिति । तार्तीयसवनमिति। तृतीयसवनभाजं तारं स्वरं । शीर्षण्यमिति । मूर्द्धनि चरन् वायुर्जनयत्युत्पादयति । जागतछन्दोऽनुगामिनम् । जागतं छन्दोऽनुगच्छतीति जागतानुगः । शीर्षण्यमिति 'शीर्षश्छन्दसि' (सू. ३५१२) इति शिरःशब्दस्य शीर्षभावः । तत्र भवं—शीर्षण्यम् ॥ ८ ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः । ९ ॥

इत्थं चरतो वायोर्वर्णजनकत्वं प्रतिपादयति—सोदीर्ण इति । 'स उदीर्ण' इत्यत्र 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरण' मिति सूत्रेण सोर्लोपे, 'आद्गुण' इति गुणः। सः = बुबोधयिषया (बोधनेच्छया)—यत्नवन्मनः–समाहतेन कायाग्निना प्रेरितः। उदीर्णः=ऊर्ध्वं प्रवृत्तः । प्रेरितः । मारुतः=वायुः । मूर्ध्नि = शिरसि । तालूर्ध्वभागे शिरःकपाले । अभिहतः = समाहतः । अभिघाताख्यं संयोगं प्राप्तः । अतएव

अवरुद्धगतिः सन् । पुनः परावर्त्य—वक्त्रम् = आस्यदेशम् । आस्यान्तर्गतानि ताल्वादिस्थानानि । आपद्य=आसाद्य । प्राप्य । वर्णान्=अकारादिवर्णान् । जनयते= उत्पादयति । अत्र यद्यपि 'बुधयुधनशजनेङ् प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः' इति सूत्रेण जनयतीति परस्मैपदमेवोचितं, तथाऽपि छान्दसत्वाज्जनयते इत्यात्मनेपदमिति न दोषः ।

अयं भावः—घटपटादिशब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयत्नवन्मनःसमाहतजाठराग्निनोर्ध्वं प्रेरितो वायुर्मूर्द्धपर्यन्तमूर्ध्वं गत्वा, शिरःकर्परेण निरुद्धगतिः सन्, पुनस्ततः प्रतिनिवृत्य मुखं प्रविष्टः, कण्ठताल्वादिस्थानाभिघातादकारादीन् वर्णान् जनयतीति ।

इत्थमुत्पन्नानां वर्णानां भेदमाह—तेषामिति । तेषां = जायमानानां वर्णानां । विभागः = परस्परं भेदः । पञ्चधा=पञ्चप्रकारेण । स्मृतः = पूर्वाचार्यैरुक्त इत्यर्थः ।

भाषाटीका—इस प्रकार घट-पट आदि के बोधन की इच्छा से उत्पन्न हुआ जो यत्न, उस यत्न से युक्त जो मन, उस मन से ताडित हुए जाठराग्नि से प्रेरित हुआ जो वायु—वह ऊपर की ओर इस प्रकार उठता हुआ, शिर पर आकर टकराता है, और ऊपर की ओर की गति के रुक जाने से पुनः नीचे की ओर वापिस लौटता है, और मुख के भीतर कण्ठ तालु दन्त मूर्द्धा आदि स्थानों में टक्कर खा कर, अकार आदि ६४ वर्णों को जन्माता है। और इस प्रकार उत्पन्न हुए वर्णों का पाँच (प्रकार का) भेद है॥ ९ ॥

[प० भा०] सोदीर्ण इति । स वायुरुदीर्ण ऊर्ध्वगतो मूर्द्धानं यावदुपरितनां गतिमलभमानः शिरःकपालेनावष्टब्धत्वात्पुनः प्रत्यावृत्य वक्त्रमेवापद्य वर्णाञ्जनयते उत्पादयति । पुनर्मारुतग्रहणं विस्पष्टार्थम् । तेषां विभागः पञ्चधा स्मृत इति । तेषां = वर्णानां जन्यमानानां, विभागो विवेकः, पञ्चधा—पञ्चप्रकारः । 'संख्यायां विधार्थे धा' (सू १९८८) इति धा । स्मृतः = अनुमतः ॥ ६ ॥

पूर्वसूचितं पञ्चधा वर्णभेदं निर्दिशति—

स्वरतः, कालतः, स्थानात्, प्रयत्ना-ऽनुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ॥ १० ॥

स्वरत इति । स्वरेण इति-स्वरतः = उदात्तानुदात्तादिस्वरभेदेन । कालतः=एकमात्रिक-द्विमात्रिक-त्रिमात्रिकादि-कालभेदेन । स्थानात् = तालुकण्ठादि-स्थानभेदेन । प्रयत्नानुप्रदानतः = आभ्यन्तरप्रयत्न-(स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृत-विवृत-

संवृत-) भेदेन, अनुप्रदानं = बाह्यप्रयत्नः—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोष इत्यादिः, तद्भेदेन च। इति = इत्येवं भेदेन। वर्णविदः = वर्णतत्त्वज्ञाः प्राचीना आचार्याः। वर्णानां भेदं—प्राहुः=कथयन्ति। हे छात्राः!। तं=भेदं। निपुणं= सावधानतया स्पष्टं। निबोधत=यूयं जानीत। यद्वा—निपुणं=स्पष्टं मयाऽभिधीय-मानं—वर्णभेदं, हे छात्राः! यूयं जानीतेति सम्बन्धः।

भाषाटीका—उदात्त, अनुदात्त आदि-स्वर, एकमात्रा, द्विमात्रा, आदि-काल, कण्ठ, तालु आदि-स्थान, स्पृष्ट ईषत्स्पृष्ट आदि-आभ्यन्तर प्रयत्न, और विवार, और संवार आदि बाह्य प्रयत्नों से उन वर्णों का पाँच भेद है। छात्रों को उन भेदों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ॥ १० ॥

[प० भा०] कैर्हेतुभिस्तेषां वर्णानां पञ्चधा विवेक इत्याह—स्वरत इति। स्वरस्थानहेतून् व्याख्यास्यामः। वर्णानां ज्ञातार एवमाहुः—'पञ्चधा विवेको वर्णानाम्' इति। स्वरतः—उदात्तादिभेदेन। कालतः—ह्रस्वादितः। स्थानं—कण्ठादि। प्रयत्नो द्विधा। अनुप्रदानं—स्वस्थानादिकं घोषादि। अनु प्रकर्षेण दीयते इत्यनुप्रदानम्। 'द्वौ नादानुप्रदानौ' इत्यौदव्रजिः। पञ्चधा विवेकं वर्णानां निपुणमुच्यमानं हे श्रोतारः! निबोधत = शृणुत ॥ १० ॥

अत्र किञ्चिदुच्यते बालव्युत्पत्त्यर्थम्। ननु सर्वमेवैतदनुपपन्नम्। कथम्?। आत्मा बुद्ध्या सहार्थान् समर्थ्य मनो युङ्क्त इति व्याख्यातम्। आत्मनश्च नियोजकभावो नोपपद्यते. अकर्तृरूपत्वात् तस्य। तथा च श्रुतिः—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्यादिका च। भवता चैवमात्मस्वरूपं व्याख्यातम्। आत्मनश्च नियोजकभावे शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्त इति, शरीरादिव्यतिरिक्त आत्मा मनो युङ्क्ते इत्यनुपपन्नम्। उच्यते। अयमात्मा समर्थ्या-ऽर्थान्मनो युङ्क्त इत्येतत् क्षेत्रज्ञाभिप्रायम्। क्षेत्रज्ञस्य तदेव स्वरूपं यन्नियोजकत्वम्। तथा च मनुः—

"योऽस्याऽऽत्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥
जीवसञ्ज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च कर्मसु॥
तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महाक्षेत्रज्ञ एव च।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठति॥" इति।

तं व्याप्येति। परमात्मानमाहुः। तथा च व्यासः—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'॥ इति।

ननु यद्यात्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थानित्युदाहृतो यो नित्यः क्षेत्रज्ञ एवात्रात्माऽभिप्रेतो भवेत्, ततः क्षेत्रज्ञ एवात्मशब्दस्य चरितार्थत्वात् शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तत्वं कतरस्माच्छब्दात् त्वया वर्णितं, किमर्थं च?। उच्यते। आत्मा बुद्ध्येत्यत्र द्वावप्यात्मानौ तौ—क्षेत्रज्ञपरमात्माभिधेयरूपावभिप्रेतौ तन्त्रेणोच्चारितौ। तन्त्रेणोच्चारणं च सूत्राणामलङ्कारः। एवं चेत् किमर्थं परमात्मनो वर्णनिमित्तत्वं, यदुक्तम्। तत्रोच्यते। अपवर्गसाधनोपकारित्वाच्छिक्षायाः। अपवर्गस्य चायमेवोपायः—शरीरादिव्यतिरिक्तस्य परमात्मनो बोधः। बुद्धे च बुद्ध्यादिभिरैक्यं भवति। किं तदपवर्गसाधनं यस्य शिक्षोपकारे वर्तते?। उच्यते। वेदा,यज्ञाश्च। तथा च श्रुतिः—'तमेत वेदानुवचनेन विविदिषन्ति, ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाऽनाशकेन च' इति। वेदानुवचनेन—यज्ञगतमन्त्राङ्गत्वात्सम्यग्वर्णोच्चारणेन यस्मान्मोक्षमाप्नोति। वक्ष्यति च—'अतुलं च सुखं समश्नुते' इति। अतुलं सुखं—मोक्ष एव भवति। अलमतिप्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसरामः॥

[वर्णों का—१ स्वर भेद, और २ कालभेद—]

उदात्तश्चाऽनुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥ ११॥

उद्देशक्रमेण वर्णानां भेदं निर्दिशति—

उदात्तश्चेति। उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरित इति—त्रयः स्वरा भवन्ति। इत्थं स्वरभेदेन वर्णानां भेदः।

कालभेदमाह—ह्रस्व इति। अचि = अज्विषये। अकारादिषु वर्णेषु। ह्रस्वः=एकमात्रिकः। दीर्घः = द्विमात्रिकः। प्लुतः=त्रिमात्रिकः। इति=इत्येवं। कालतः=कालात्। कालकृताः। मात्रारूपकालभेदात्। नियमाः=भेदाः। सन्ति। 'ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः' इति सूत्रेणाऽचामेव ह्रस्वादिसञ्ज्ञाविधानादत्राऽचीत्युक्तम्।

भाषाटीका—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—इन तीन स्वरों के भेद से वर्णों में भेद होता है। जैसे—उदात्त अकार से अनुदात्त अकार स्वरभेद से भिन्न है। इसी प्रकार मात्रा से (काल भेद से भी अचों में=अकार आदि में) भी भेद होता है। जैसे—एकमात्रिक अच्–ह्रस्व, द्विमात्रिक अच्–दीर्घ, त्रिमात्रिक अच्–प्लुत कहाता है। उदाहरण—ह्रस्व अकार—'अ'। दीर्घ अकार—'आ'। प्लुत अकार—आ ३। इसी प्रकार इकार आदि में भी भेद समझना॥ ११॥

[प० भा०] उदात्तश्चानुदात्तश्चेति। स्वरतः कालत इत्येतौ द्वौ हेतू श्लोके विवृणोति। स्वर–उदात्तादिः। कालो–मात्राप्रभृतित्रिमात्रपर्यन्तः। उदात्त इत्युपरिष्ठात् परिगृहीतः। अनुदात्तस्तद्विपरीतः, अधस्ताद् गृहीत इत्यर्थः। स्वरित इति–स्वरान्तरम्। स्वरतीति स्वरितः–आक्षेपनिष्पाद्यो य उदात्तानुदात्तविकारः। तथा च नारदः—

'उच्चादुच्चतरं नास्ति' नीचान्नीचतरं तथा।
त्रैस्वर्ये स्वरसंज्ञायां किंस्थानं स्वर उच्यते॥
'उच्चनीचस्थयोर्मध्ये साधारण इति श्रुतिः।
तं स्वरं स्वरसंज्ञायां प्रतिजानन्ति शैक्षिकाः' ॥ इति।

स्वरास्त्रय इति। त्रय एव ऋग्यजुर्विषयाः। पञ्च, षट्, सप्त च–सामसु। ह्रस्व एकमात्रो, दीर्घो द्विमात्रः, प्लुतस्त्रिमात्रः। 'निमेषकाला मात्रा स्यात्' इत्यौदव्रजिः। तथा च नारदः—

'निमेषकाला मात्रा स्याद्विद्युत्कालेति चापरे' इति।

इतिशब्दः प्रकारार्थः। अनेन प्रकारेण कालतो हेतोः, स्वरतश्च विषयभागनियमः। तथा च नारदः—

'स्वर उच्चः, स्वरो नीचः, स्वरः स्वरित एव च।
व्यञ्जनान्यत्र वर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः' इति॥ ११–१६॥

ननु सामवेदे निषादादयः सप्त स्वरा भवन्ति, तत्कथमत्र त्रय एव स्वरा भगवता पाणिना निर्दिष्टा अत आह—

उदात्ते निषाद-गान्धारावनुदात्त ऋषभ-धैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः॥ १२॥

उदात्तो इति। उदात्तादिषु त्रिषु स्वरेष्वेव निषादादयः सप्त स्वरा अन्तर्भवन्तीत्यतस्त्रय एव स्वरा अत्रोक्ताः। तत्र—उदात्ते—निषाद-गान्धारस्वरावन्तर्भवतः। अनुदात्ते—ऋषभ-धैवतावन्तर्भवतः। स्वरिते—षड्ज-मध्यम-पञ्चमाख्यास्त्रयः स्वरा अन्तर्भवन्ति। अत उक्तं—'स्वरितप्रभवा ह्येते षड्ज-मध्यम-पञ्चमा' इति। हि = यतः। एते = षड्जादयस्त्रयः स्वराः। स्वरितप्रभवाः= स्वरितस्वरादुत्पन्नाः। अतः स्वरितेऽन्तर्भावयितुमिमे शक्या इत्याशयः।

भाषाटीका—यद्यपि सामवेद के गान में, तथा सङ्गीतशास्त्र आदि में भी निषाद आदि सात स्वर होते हैं, अतः यहाँ तीन ही स्वरों का नाम लेने से न्यूनता मालूम होती है, परन्तु—उदात्त स्वर से ही 'निषाद' और 'गान्धार' स्वर उत्पन्न होते हैं, अतः उनका उदात्त स्वर में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए। इसी प्रकार अनुदात्त स्वर से उत्पन्न होने के कारण 'ऋषभ' और 'धैवत' का अनुदात्त में अन्तर्भाव हो जाता है। स्वरित स्वर से ही उत्पन्न होने के कारण—'षड्ज' 'मध्यम' 'पञ्चम' स्वरों का स्वरित में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—ये तीन ही स्वर मुख्य हैं। अतः पाणिनिजी नें तीन ही स्वर यहाँ कहे हैं।

निषाद आदि ७ स्वरों का लोक में परिचय—स (षड्ज), रि (ऋषभ), ग (गान्धार), म (मध्यम), प (पञ्चम), ध (धैवत) नि (निषाद)—इन आदि के सात अक्षरों से होता है ॥ १२ ॥

[वर्णों का ३ स्थान भेद—]

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः, कण्ठः, शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च, दन्ताश्च, नासिकोष्ठौ च, तालु च॥ १३॥

वर्णानाम् = अकारादीनाम्, अष्टौ = अष्ट। स्थानानि—भवन्ति। तान्येवाष्टौ स्थानान्याह—उर इति। १ उरः (हृदयं)। २ कण्ठः। ३ शिरः। ४ जिह्वामूलं। ५ दन्ताः। ६ नासिका। ७ ओष्ठौ च। ८ तालु च। कस्य वर्णस्य किं स्थानमिति त्वग्रे स्वयमेव वक्ष्यति।

भाषाटीका—अकार आदि वर्णों के ८ स्थान होते हैं। उन आठ स्थानों से वर्णों में भेद होता है। जैसे—अकार का कण्ठ स्थान है, इकार का तालु स्थान है, अतः—अकार और इकार का विवृत प्रयत्न एक होने पर भी स्थानकृत परस्पर

भेद है। आठ स्थानों के नाम—१ उर (हृदय, छाती), २ कण्ठ, ३ शिर, ४ जिह्वाका मूल भाग, ५ दन्त, ६ नासिका, ७ ओष्ठ, और ८ तालु ॥ १३ ॥

[प्रसङ्गवश—ऊष्म = विसर्ग की आठ प्रकार की गतिका वर्णन]।

ओभावश्च, विवृत्तिश्च, शषसा, रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥ १४ ॥

प्रसङ्गाद्विसर्गरूपस्योष्मणोऽष्टविधां गतिं बालबोधायाऽऽह—

ओभावश्चेति। ऊष्मणः—विसर्गस्य। विसर्गस्य ऊष्मसञ्ज्ञा च याज्ञवल्क्य-शिक्षायां दृश्यते। तथाहि—'यथा बालस्य सर्पस्य निःश्वासो लघुचेतसः। एवमूष्मा प्रयोक्तव्यो हकारं परिवर्जयेत् ॥' इति। 'विवृतिप्रत्ययादूष्मां प्रवदन्ति मनीषिणः' इति च। विसर्गस्य,—ओभावश्च=ओकाररूपता। विवृतिश्च = सन्ध्यभावश्च। शषसाः = शकार–षकार–सकारादेशा वा। रेफ एव च=रेफादेश एव वा। जिह्वामूलं = जिह्वामूलीयादेशो वा। उपध्मा च = उपध्मानीयादेशो वा। भवतीति—अष्टविधा=इत्यष्टप्रकारा। गतिः = प्रत्यापत्तिः। ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिर्वा। 'भवती' ति शेषः। तत्र—

१ विसर्गस्य ओभावो, यथा—'शिवो वन्द्य' इति। अत्र हि शिवसिति सकारस्य, 'शिवः' इति विसर्गस्य वा—साक्षात्परम्परया वा—'अतो रोरप्लुता' दिति सूत्रेण रो रेफस्य उत्वे,'आद्गुण' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणे च—'ओ'भावो भवति। अर्थात्—'शिवो वन्द्य' इत्यत्र विसर्ग एव ओभावं गतः। विसर्गस्यैव हि ओकार-रूपेयं गतिर्जाता।

२ विवृतिलक्षणमुदाहरणञ्च याज्ञवल्क्यशिक्षायामुक्तं—

'द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते।
विवृतिस्तत्र विज्ञेया 'य ऽईशे' ति निदर्शनम् ॥ इति।

लोके विवृत्युदाहरणं—'रामऽइहे'ति।

३ विसर्गस्य शकारादेशरूपा गतिर्यथा—हरिः शेते, हरिश्शेते। अत्र 'वा शरी' ति विसर्गस्य सकारे, 'स्तोः श्चुना श्चु' रिति तस्य शकारादेशः।

४ विसर्गस्य षकारादेशरूपा गतिर्यथा—'रामष्षष्ठः'। अत्र विसर्गस्य 'वा शरी' ति सत्वे, तस्य 'ष्टुना ष्टु' रिति ष्टुत्वेन षकारादेशः।

५ विसर्गस्य सकारादेशरूपा गतिर्यथा—'कस्कः,' 'कौतस्कुत' इति। अत्र 'कस्कादिषु चे' ति सूत्रेण विसर्गस्य सकारादेशः। 'रामस्रातेत्यत्र च 'विसर्जनीयस्य स' इत्यनेन विसर्गस्य सकारादेशः।

६ विसर्गस्य रेफरूपा गतिर्यथा–'अहर्पतिः' 'गीर्पतिः' 'धूर्पतिः' इति। अत्र 'अहर्पति'रित्यादौ–'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफ' इति वा रेफादेशः। पक्षे च विसर्गः–'अहःपति' रिति। इयं विसर्गस्यैव साक्षात्परम्परया वा रेफरूपा गतिरिति मन्तव्यम्। पक्षे विसर्गस्यैव श्रवणात्।

७ विसर्गस्य–जिह्वामूलीयरूपा गतिर्यथा—'क≍करो ती'ति। अत्र विसर्गस्य 'कुप्वो' रिति जिह्वामूलीयादेशः।

८ विसर्गस्योपध्मानीयरूपा गतिर्यथा–'क≍पचति' इति। अत्र विसर्गस्य स्थाने 'कुप्वो' रित्युपध्मानीयादेशः। पकारात्पूर्वस्याऽर्द्धविसर्गतुल्यस्य (≍) उपध्मानीयत्वात्।

विसर्गस्य साक्षात्परम्परया–वेयमेवाऽष्टविधा गतिर्भवति, नाऽन्येत्याशयः।

भाषा टीका—ऊष्मा–अर्थात् विसर्ग की निम्नलिखित आठ प्रकार की गति (वर्णान्तरप्राप्ति) होती है। विसर्ग को ही ऊष्मा = वायु प्रधान होने से ऊष्मापद से याज्ञवल्क्य शिक्षा में कई जगह व्यवहार किया है।

१ ओभावरूप गति—जैसे-'शिवो वन्द्यः'। यहाँ 'शिवः' इसका विसर्ग 'शिवो' में 'ओ' रूप हो गया है। वस्तुतः यह विसर्ग ही है, किन्तु ओकार स्वरूप हो गया है।

२ विवृतिरूप गति—जहाँ दो अचों में सन्धि न हो, जैसे–'यऽईशे'–उसको (सन्ध्यभाव को) 'विवृति' कहते हैं। 'यऽईशे' यहाँ सकार को रुत्व यत्व होकर उसका लोप हुआ है। अतः उसके असिद्ध हो जाने से यहाँ सन्धि नहीं होती है। अतः यह विवृति का उदाहरण है। यहाँ विसर्ग ही विवृति (रुककर बोलना) रूप से भासित होता है। वेद में विवृति का चिह्न (ऽ) यह है।

३ शकाररूप गति—'हरिःशेते,' 'हरिश्शेते'। यहाँ विसर्ग ही शकार रूप से भासित होता है।

४ षकार रूप गति—रामष्षष्ठः। आविष्कृतं। दुष्कृतम्। यहाँ विसर्ग ही का षकार रूप हो गया है। अर्थात्–यहाँ विसर्ग न बोलकर उसको 'ष' ही बोला जाता है।

५ सकार रूप गति—'कस्कः'। यहाँ विसर्ग ही सकार रूप से भासित हो रहा है।

६ रेफरूप गति—अहर्पतिः। हरिर्हरति। यहाँ विसर्ग ही रेफरूप से प्रतिभासित होता है।

७ जिह्वामूलीय रूप गति—क ⌣⌢ करोति। क ⌣⌢ खनति।

८ उपध्मानीय रूप गति—क ⌣⌢ पचति। क ⌣⌢ फलति। यहाँ विसर्ग ही जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ⌣⌢ रूप को प्राप्त होकर प्रतिभासित होता है॥१४॥

ननूष्मभावापन्नस्य ओकारस्य, साधारणौकारस्य च कथं विवेकोऽतस्तयोर्विवेकायाऽऽह—

यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद्, यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः॥ १५॥

यद्योभावेति। उकार आदौ यस्य, तत्—उकारादि, तादृशं पदं परं यत्र तत्—उकारादिपरम्। यत्र पदे, वाक्ये वा—उकारादिपरं पदं परं भवति तत्र,-यदि-ओभावप्रसन्धानम् = ओत्वरूपः सन्धिः, अर्थात्—ओकाररूपः सन्धिर्दृश्यते, तदा तत्र तादृशम्—ओभावप्रसन्धानं, स्वरान्तं (स्वरोत्थम्)=स्वर—(अच्-)—स्थानिकं। विद्यात्=जानीयात्। [अत्र 'स्वरोत्थ' मित्येव पाठो भवेदिति गौडाः]। उदाहरणं यथा—इषेत्वा—ऊर्जेत्वा='इषेत्वोर्जेत्वा'। अत्र 'त्वा—ऊर्जे' इत्यत्र उकारादि-पदम्—'ऊर्जे' इति। तत्परत ओभावः—'त्वोर्ज्जे' इति दृश्यते, अत इदमोभाव-प्रसन्धानं स्वरोत्थमेव, नोष्म(विसर्ग)प्रभवम्।

इतोऽन्यत् = ईदृशस्थलाऽतिरिक्तस्थले, यत्-ओभावप्रसन्धानं दृश्यते, तत्तु ऊष्मणः = विसर्गात्, (विसर्गस्य सकाशाद्वा) व्यक्तम् = उद्भूतं, साक्षात्परम्परया वा निष्पन्नं, विद्यात् = जानीयात्। यथा—'शिवो वन्द्यः' इति। 'महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः' इति च। अत्रहि 'महिमातो' इत्योकारप्रसन्धानं यत्तद्विसर्गप्रभवम्।

अत्रोष्मणोऽष्टविधगतौ हि—'विसर्गस्थाने ओकाराद्यादेश' इत्यर्थं इति न भ्रमितव्यं, किन्तु 'विसर्ग एवाऽयमोकारादिरूपां दशामापन्न इत्येवाऽर्थं' इति न काचिदनुपपत्तिः। अन्यथा तु विसर्गस्य ओकाराद्यादेशविधायकवचनाऽभावादिद-मष्टविध[illegible]

भाषा टीका—उकारादि पद परे रहते जो ओकार रूप सन्धि हुआ है, वह ऊष्मा (विसर्ग) की गति नहीं है, किन्तु वह तो दो स्वरों से ही उद्भूत हुआ है। जैसे—गङ्गा—उदकं, गङ्गोदकम्। और इससे अतिरिक्त स्थल में जहाँ ओकार रूप सन्धि हुआ हो, वहाँ—'विसर्ग की ही वह गति विशेष है,'—ऐसा समझना। जैसे—'शिवो वन्द्यः'। 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्' ॥ १५ ॥

पूर्वोद्दिष्टान्यष्टौ स्थानानि उद्देशक्रमेण व्यवस्थापयितुमाह चतुर्भिः श्लोकैः—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं [1]तं विजानीयात्, कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ १६ ॥

हकारमिति। पञ्चमैः = वर्गपञ्चमैर्णकारनकारमकारादिभिर्यथासम्भवं-संयुतम्। अन्तस्थाभिश्च = यरलवैश्च। संयुतं = संयुक्तं। तं हकारम्,—उरसि भवम्—उरस्यम् = उरःस्थानोद्भवं। विजानीयात् = जानीयात्।

असंयुतं हकारञ्च—कण्ठ्यं = कण्ठस्थानप्रभवम्—आहुः=स्थानविदः कथयन्ति। तत्र उरस्यस्योदाहरणं क्रमशो यथा—'अपराह्णम्' 'अपह्नवः,' 'ब्राह्मणः,' 'बाह्यः,' 'ह्रादिनी,' 'आह्लादः,' 'आह्वयति'।

असंयुक्तस्य कण्ठ्यस्योदाहरणं—'हरिः' 'हयः' 'हनूमान्' इति ॥ १६ ॥

भाषाटीका—जो हकार—वर्ग के पञ्चम अक्षर (ङ ञ) ण न म—इनसे, तथा य र ल व इनसे संयुक्त हो, तो उस संयुक्त हकार का उर (छाती) स्थान होता है। इसी लिए वह 'उरस्य' कहलाता है। जैसे—'अपराह्ण' 'अपह्नव' 'ब्राह्मण' 'बाह्य' 'ह्लाद' 'आह्वान' इत्यादि में हकार 'उरस्य' है। और इन पूर्वोक्त वर्णों से असंयुक्त जो हकार है, वह कण्ठ स्थान वाला होता है। जैसे—'हरिः,' 'हयः' इत्यादि ॥ १६ ॥

स्थानत इति यदुक्तं, तदाह—

कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा, दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥ १७ ॥

कण्ठ्याविति। अ-हौ = अकारहकारौ। कण्ठे भवौ—कण्ठ्यौ = कण्ठस्थान-वन्तौ। इ-चु-य-शाः = इकार—चवर्ग-यकार-शकाराः। तालव्याः=तालुस्थानवन्तः।

---

1 'औरस्यम्' इति पाठान्तरम्। तत्र च स्वार्थिकोऽण् बोध्यः।

तदुक्तम्—'इचुयशानां तालु' इति। उ–पू = उकारपकारौ। ओष्ठजौ = ओष्ठस्थान-प्रभवौ। तदुक्तम्—'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' इति। ऋ-टु-र-षाः = ऋकार-टवर्ग-रेफ-षकाराः। मूर्धन्याः = मूर्ध्नि भवाः। मूर्द्धा स्थानमेषामित्यर्थः। तदुक्तम्—'ऋटुरषाणां मूर्द्धा' इति। ऌ-तु-ल-साः–दन्त्याः = दन्तस्थानप्रभवाः। दन्तोद्भव-प्रदेश एषां स्थानम्। तदुक्तम्–'ऌ-तु-ल-सानां दन्ताः' इति। स्मृताः=पूर्वं-विद्वद्भिः कथिताः।

भाषाटीका—अकार, और हकार का 'कण्ठ' स्थान है। इकार, चवर्ग, यकार, शकार–इनका 'तालु' स्थान है। उकार, पवर्ग–इनका 'ओष्ठ' स्थान है। ऋकार, टवर्ग, रेफ, षकार–इनका 'मूर्द्धा' स्थान है। ऌकार, तवर्ग, लकार, सकार–इनका 'दन्त' स्थान है॥ १७॥

[प॰भा॰] कण्ठ्यावहाविति। कण्ठ्यावहौ। अकारहकारौ कण्ठतो जातौ। इचु-यशाः तालव्याः। इकारश्च चवर्गश्च यकारशकारौ च एते तालव्याः=तालुस्थाने भवाः। चु इत्युकाराऽनुबन्धो वर्गं ज्ञापयति। वर्गादावन्यत्रापि कुचुटुतुपु इत्येवमादिषु उकारः पञ्चवर्णपरिग्रहणार्थः। तथा च पाणिनिः–'अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' इति। औदव्रजिरपि—'स्पर्शवर्गस्य स्पर्शग्रहणे च ज्ञेयम्। वर्गस्य ग्रहणं स्थाने-ष्वित्याकरः' इति। ओष्ठजावुपू। उकारः, पवर्गश्च—ओष्ठयोर्जातौ। स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा इति। ऋकारः, टवर्गश्च–रेफषकारौ च-मूर्द्धन्या भवेयुः। दन्त्या ऌतुलसा इति। ऌकारस्तवर्गश्च, लकारसकारौ च—दन्तेषु भवाः॥ १७॥

जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो, दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
एऐ तु कण्ठतालव्यावोऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ॥ १८॥

जिह्वेति। कवर्गस्य जिह्वामूलं = कण्ठसमीपप्रदेशः, स्थानम्। वः=वकारः। दन्त्योष्ठ्यः = दन्तोष्ठस्थानवान्। बुधैः = विद्वद्भिः। स्मृतः = कथितः। स्मर्यते। तदुक्तं–'वकारस्य दन्तोष्ठम्' इति। ए ऐ–एतौ–कण्ठतालव्यौ=कण्ठतालु-स्थानजातौ। तदुक्तम्–'एदैतोः कण्ठतालु' इति। ओ औ–कण्ठोष्ठजौ, स्मृतौ= कथितौ। अनयोः कण्ठोष्ठं स्थानम्। तदुक्तम्—'ओदौतोः कण्ठोष्ठम्' इति।

भाषा टीका—कवर्ग का जिह्वामूल (जिह्वा की जड़ = कण्ठ) स्थान है। और वकार का पण्डितों ने 'दन्तोष्ठ' स्थान कहा है। और ए ऐ का कण्ठ-तालु स्थान है। ओ औ का—कण्ठोष्ठ स्थान है॥ १८॥

[प० भा०] जिह्वामूले इति । कवर्गस्तु—जिह्वामूले कथितः । दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैरिति । वकारो दन्तोष्ठयोर्भवतीति पण्डितैः स्मर्यते । एऐ तु कण्ठतालव्याविति । एकार ऐकारश्च कण्ठतालुतो जातौ । ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृताविति । ओकारश्चौकारश्च—कण्ठोष्ठयोर्जातौ ॥ १८ ॥

एचां सन्ध्यक्षरत्वात्कस्य वर्णस्य तत्र कियान् भाग इति व्यवस्थापयन्नाह—

[1]अर्द्धमात्रा तु [2]कण्ठ्यस्य ह्यैकारौकारयोर्भवेत् ।
[3]ओकारौकारयोर्मात्रा, तयोर्विवृतसंवृतम् ॥ १९ ॥

अर्द्धमात्रेति । एकारौकारयोः=एकारे, ओकारे च । कण्ठ्यस्य = अकारस्य । अर्द्धमात्रा = मात्रार्द्धम्भवति । अवशिष्टा सार्द्धा मात्रा १॥ तु—एकारे—इकारस्य, ओकारे—उकारस्य ज्ञेया । एवम्—ऐकारौकारयोः (=ऐकारे, औकारे च ।) मात्रा= एका मात्रा । 'कण्ठ्यस्ये' ति शेषः । तेन तत्र—आकारस्य पूर्वा एका मात्रा । अवशिष्टा मात्रा तु—ऐकारे—इकारस्य । औकारे—उकारस्य ज्ञेया । तयोः=एकारौकारयोः, ऐकारौकारयोश्च विवृत—संवृतं=विवृतं, संवृतं च अवर्णं ज्ञेयम् । तथा च—एकारे, ओकारे च—ह्रस्वोऽकारः संवृतः । ऐकारे, औकारे च—दीर्घं आकारो विवृत इति विवेकः—इत्यन्ये ।

[केचित्तु—अत्र—एकारेण—ऐकारस्य, ओकारेण-औकारस्य चोपलक्षणविधया ग्रहणमाश्रित्य—चतुर्ष्वपि—ए ऐ ओ औ—इत्येतेषु सन्ध्यक्षरेषु पूर्वा अर्द्धा मात्रा कण्ठ्यस्य अक्षरस्य भवति, परिशेषादवशिष्टा सार्द्धा १॥ मात्रा च यथायथमिकारोकारयो'रिति तु पूर्वपक्षिमतम् ।

अथ स्वयमेव भगवान् पाणिनिः स्वसिद्धान्तमतमाह—ओकारै(रौ)कारयोरिति । अत्रापि पूर्ववत्—ओकारेण—औकारस्य, एकारेणैकारस्य च ग्रहणमिति चतुर्ष्वपि 'ए ऐ ओ औ' इत्येतेषु सन्ध्यक्षरेषु पूर्वा एका १ मात्रा कण्ठ्यस्य, उत्तराऽवशिष्टा एका १ मात्रा—एदैतोरिकारस्य, ओदौतोरुकारस्य । अयमेव च सिद्धान्तः पक्षः । तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्—

'आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य, एकारौकारयोर्भवेत् ।
तालव्यस्य, तथोष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम् ॥' —इति ।

---

१ 'आद्या मात्रा तु' । २ 'कण्ठ्यास्यादेकारौकारयोः' इति पाठः । २ 'ऐकारौकारयो'रिति पा० ।'एकारैकारयो'रिति च पा० । ३ 'इकारोकारयो'रिति पाठो भवेत् ।

तत्र अर्द्धमात्रा=एका मात्रेत्यर्थः ।'—इति व्याचक्षते । स चाऽयमर्थो नोचितः]।

वस्तुतस्तु—

'आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य ह्येकारौकारयोर्भवेत्[1] ।
इकारोकारयोर्मात्रा, तयोर्विवृत-संवृतम् ॥'

—इत्येव पाठोऽत्र शुद्धो भवेदित्येव दृढमनुमीयते। द्विमात्रिके एकारे, ओकारे च—आद्या (अर्द्धा) मात्रा (एका मात्रा) अकारस्य कण्ठस्थानिकस्य ज्ञेया । एवमपरा एका मात्रा च-एकारे-इकारस्य, ओकारे उकारस्य बोध्येति च तत्र स्पष्टोऽर्थः सम्भवति । अस्मिन्नेवाऽर्थे च याज्ञवल्क्यशिक्षाऽप्यनुकूला । तदुक्तं याज्ञवल्क्य-शिक्षायाम्—

'आद्या मात्रा तु कण्ठ्यस्य [1]ह्येकारौकारयोर्भवेत् ।
तालव्यस्य, तथौष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम् ॥' इति ।

अत एव महाभाष्येऽपि,—एङोः—अर्द्धा आद्या मात्रा अकारसदृशी कण्ठ्या, अवशिष्टा परा मात्रा च यथायथमिकारोकारसदृशीति 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति सूत्रे स्पष्टमेवोक्तम् ।

तत्र च-'ए''ओ'इत्यत्र संवृताऽकारत्वात्=पांसूदकवदकारेकारोकाराणां मिलितत्वाद्विभागाऽसंप्रत्ययादेङ्यैव वार्त्तिककारेण शङ्का कृता, 'ऐ' 'औ' इत्यत्र ऐचोस्तु विवृताकारत्वादकारस्य, इकारोकारयोश्च स्पष्टं विभागसंप्रत्ययाच्च शङ्का कृतेति तदाशयं कैयट आह । एवञ्चाऽत्र भगवता पाणिनिना—एकारे, ओकारे च विभागाऽसंप्रत्ययाद्विभागप्रदर्शनायैव-'[2]अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यास्यादेकारौकारयोर्भवेत् ।' इति वचनमारब्धम्। नतु ऐकारे, औकारे च विभागप्रदर्शनार्थमिदं वचनमित्युपलक्षणपरतया व्याख्यानं नोचितम् । तथाचाऽस्मदुक्त एवाऽर्थोऽत्र युक्तः। पाठश्चात्राऽस्माभिरूहित एव च युक्त इति च सुधीभिर्विभाव्यम् ।

'एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) इति सूत्रे भाष्ये-'एच इग्वचनं सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थ' मिति वार्त्तिकमुपादायोक्तं-'सवर्णनिवृत्त्यर्थं तावत्-एङो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारो वा माभू' दित्युक्तम्। अत्र कैयटः-"एङ

१ अत्र—प्राचीनलिखित-याज्ञवल्क्यशिक्षापुस्तकेषु सर्वत्र 'एकारौकारयो'-रित्येव पाठो लभ्यते । क्वचित्तु 'एकारैकारयो'रिति पाठो दृश्यमानोऽपि स भ्रमादागत इत्यवधेयम् । २ 'आद्या मात्रा तु' पा० ।

प्रश्लिष्टाऽवर्णत्वात्प्रश्लिष्टाऽवर्णावद्धैंकाराऽद्धौंकारौ प्राप्नुतो, नतु विश्लिष्टाऽवर्णयो-रैचोरिति भावः ।" इत्याह । अत्र नागेशभट्टा आहुः–भाष्ये 'एच' इति वक्तव्ये 'एङः' इत्यनुचितमत आह–एङ इति ।' एवञ्च-ऐजपेक्षया एङोरवर्णप्रश्लेष–विश्लेषाभ्यां भेदः स्पष्ट एव । 'ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वा' दिति वदन् वार्त्तिककारोऽर्द्धमात्रा अका-रस्य, सार्द्धा १॥ मात्राऽवशिष्टा इकारस्य, उकारस्य च–यथायथमैचोरिति मन्यते । भाष्यकारस्तु–एका आद्या मात्रा अकारस्य, एका परा मात्रा इकारस्य, उकारस्य चेति मन्यते । तदिदं स्पष्टमन्यत्र ।

तयोर्विवृतेति । तयोः=एकारे,ओकारे च–अकारभाग–इकारोकारभागयोर्मध्ये । आद्योऽकारभागः–संवृतः । इकारस्य, उकारस्य च अपरो भागो विवृत इत्यर्थः । विवृतस्याऽत्र लघ्वक्षरत्वात्पूर्वनिपातः । तथा च संवृत-विवृतमिति यथाक्रमसन्वयः ।

भाषाटीका –'ए'(ऐ) और 'ओ' (औ)–इनमें दो २ मात्रा हैं, उनमें पहिली १ मात्रा कण्ठस्थानिक अकार (सदृशवर्ण) की है, अतः उसका कण्ठ स्थान है, और बाकी बची हुई दूसरी मात्रा एकार (और ऐ) में–इकार की, और ओकार और औकार) में–उकार की हैं ।

और पहिली अकार की एक मात्रा–'संवृत' है । और अवशिष्ट इकार और उकार की एक मात्रा–'विवृत' है ।

यही अर्थ सिद्धान्तभूत है, और उचित है । महाभाष्य में तो–एङ्=ए ओ–में एकमात्रा अकार की, और अवशिष्ट दूसरी मात्रा–इकार व उकार की है–ऐसा लिखा है । और ऐच् (= ऐ औ)-को कुछ सूक्ष्म सा भेद होने से ही एङ् (= ए ओ) से पृथक् (कुछ भिन्न ही) माना है । अतः ए ओ से–ऐ औ का भी उपलक्षण जो कुछ लोगों ने अपनी टीकाओं में लिखा है, वह विशेष आवश्यक नहीं है । ए ओ में तो संवृत (ढका हुआ) अकार, और (विवृत=स्पष्ट) इकार उकार–ऐसे मिले हुए हैं, जैसे दूध और पानी, अतः आपाततः अकार का एवं इकार उकार का वहाँ ज्ञान ही नहीं होता है । इसीलिए पाणिनिजी ने–'आद्या' मात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत् । इकारोकारयोर्मात्रा'–यह वचन बनाया है । परन्तु ऐ औ में तो यह बात नहीं है, वहाँ तो अकार विवृत ही है, अतः वहाँ अकार का भेद तो स्पष्ट रूप से स्वयं ही ज्ञात हो जाता है । इसीलिए–'तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च' इस वचन से एङ् और ऐच् में कुछ तारतम्य बताया है । याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी—

'आद्या[1] मात्रा तु कण्ठ्यस्य ह्येकारौकारयोर्भवेत् ।
तालव्यस्य, तथौष्ठ्यस्य द्वितीया तु यथाक्रमम् ॥'

—इस श्लोकमें स्पष्ट ही 'ए' और 'ओ' में—दो दो मात्राओं में से पहिली आधी मात्रा (१ मात्रा) अकार की, और दूसरी आधी (१एक) मात्रा एकारमें इकार की, और ओकार में—उकार की है—ऐसा लिखा है ।

अतः—इस श्लोकमें—

'अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत् ।
'ओकारौकारयोर्मात्रा, तयोर्विवृतसंवृतम् ॥'

—यह प्रचलित पाठ शुद्ध प्रतीत नहीं होता है । क्योंकि—उपलक्षण माने विना यह पाठ ठीक २ लगता ही नहीं है। और ऐ औ का नाम याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी नहीं लिया है। महाभाष्यमें भी ए ओ से ऐ औ को कुछ भिन्न माना भी है। अतः—'ए' (और 'ऐ') एवं 'ओ' (और 'औ') इनमें—पहिली १ मात्रा अकार की, बाकी १ मात्रा—इकार व उकार की है—यह अर्थ तो स्वतः सिद्ध होता है। [पाणिनिजी ने तो 'ए' 'औ' के ही लिए वचन बनाया है । 'ऐ' 'औ' में तो एक मात्रा अकार की विना ही वचन के स्वतः ही मालूम हो रही है] ॥१९॥

[प०भा०] अर्द्धमात्रा इति । अर्द्धमात्रा तु कण्ठस्य भवति । कयोः? । एकारस्यौकारस्य च। सवर्णग्राहकत्वादेकारश्च औकारश्च द्वावपि गृह्येते । अतश्चतुर्णामपि सन्ध्यक्षराणामर्द्धमात्रा कण्ठसबन्धिनी भवेत् । अध्यर्द्धास्तालव्योष्ठस्थानाः ॥१९॥

संवृत-विवृतयोर्विषयविभागं ब्रुवन्करणभेदेन वर्णानां भेदमाह—

संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं, विवृतं तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्वे, अघोषा विवृताः स्मृताः ॥२०॥

संवृतमिति । मात्रिकं = मात्रिकं वर्णम् (=अकारादिकं), संवृतम् (अनभिव्यक्तम्, अस्पष्टं, संवृतप्रयत्नकं वा) । ज्ञेयं = बोध्यम् । एवं—द्विमात्रिकम्= आकारादिकम् । विवृतं=विवृत-प्रयत्नकं ज्ञेयम् । तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्—

'अकारः संवृतो ज्ञेय, इतरे विवृताः स्वराः ॥' इति ॥

एवमकारादीनामचां करणं निरूप्य, हलामपि तदाह—

घोषा वेति । वा = अथवा। किञ्च । सर्वे घोषाः = घोषप्रयत्नवन्तो विंशतिवर्णाः—ग ज ड द ब—घ झ ढ ध भ—ङ ञ ण न म—य र ल व-हाः (२०)।

[1] 'अर्द्धमात्रा' पा० ।

संवृताः = संवृतप्रयत्नवन्तो बोध्याः । अघोषाः = अघोषप्रयत्नवन्तस्त्रयोदश (१३) वर्णाः—क च ट त प—ख छ ठ थ फ—श ष साः। विवृताः = विवृत-प्रयत्नवन्तो बोध्याः। तदुक्तं—याज्ञवल्क्येन—

'चतुर्विधं हि करणं—'स्पृष्टम्, अस्पृष्टं, संवृतं, विवृतमिति'।

भाषाटीका—एकमात्रिक[1] (अकार) वर्णका—संवृत प्रयत्न है, और द्विमात्रिक—आकार, एवम्–इ ई उ ऊ—आदि अवशिष्ट अचों का विवृत प्रयत्न है। और २० घोषवर्ण संवृत हैं, और अघोषवर्ण १३ विवृत हैं।

२० घोष—ग ज ड द ब, घ झ ढ ध भ, ङ ञ ण न म, य र ल व, ह—२०। ये—संवृत हैं।

१३ अघोष—क च ट त प, ख छ ठ थ फ, श ष स–१३। ये विवृत हैं॥२०॥

'विवृत' 'विवृततर' 'विवृततम' रूपकरणतो वर्णानां भेदमाह—

स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ, ताभ्यामैचौ तथैव च॥ २१॥

स्वराणामिति। स्वराणाम् = अचाम्। ऊष्मणां चैव=शषसहानामूष्मसञ्ज्ञ-कानां चैव। विवृतं=विवृताख्यं। करणम् = आभ्यन्तरप्रयत्नः। स्मृतम् = उक्तम्। एवञ्च–अचां, शषसहानां च विवृतः प्रयत्न इत्यर्थः। तेभ्यः=स्वरेभ्यः, शषसहेभ्यश्च। एङौ=ए ओ इति वर्णौ। विवृतौ = विवृततरौ। [विवृताऽपेक्षयाऽपि विवृतौ। विवृतराविति यावत्]। ताभ्याम् = विवृततराभ्यामेकारौकाराभ्यामेङ्भ्या-मपि। ऐचौ=ऐ औ इति वर्णौ। तथैव च = विवृतौ। अर्थात्–विवृततमौ। विवृ-ताऽपेक्षयापि विवृत्त्वस्य—विवृततरत्वे पर्यवसानात्, विवृततराऽपेक्षयाऽपि विवृत-त्वस्य च विवृततमत्वे एव पर्यवसानात्।

[वर्णों का करण से भेद]

भाषाटीका—अचों का (अ इ उ, ऋ ऌ, ए ओ, ऐ औ,—इनका) और श ष स ह—इनका 'विवृत' प्रयत्न है। और इनसे भी–ए ओ–ये विवृततर हैं,

---

[1] अनेन वचनेन तु सर्वेषां मात्रिकवर्णानामकारेकारादीनां संवृतप्रयत्नवत्त्वं, द्विमात्रिकाणां दीर्घाकारेकारादीनां च सर्वेषां विवृतत्वमित्येव लभ्यते। अकारस्यैव संवृतत्वम्, अवशिष्टानां सर्वेषां ह्रस्वदीर्घादीनामचां विवृतत्वमित्यर्थस्तु नैव स्वर-सतोऽनेन लभ्यते-इत्यपि सुधीभिर्विवेचनीयम्।

और ए ओ–से भी–ऐ औ–ये विवृततम हैं। अर्थात्–ए ओ का 'विवृततर' प्रयत्न है, और ऐ औ का–'विवृततम' प्रयत्न है॥ २१॥

प्रसङ्गात्करणभेदमुक्त्वा पुनरपि वर्णानां (स्थानकृतं) भेदमाह—

अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः[1] ॥ २२॥

अनुस्वारेति। अनुस्वारस्य, यमानां='कुँ खुँ गुँ घुँ' इत्येवं चतुर्णां वेदप्रसिद्धयमानां। च=पुनः ङ ञ ण न मानाञ्च। नासिका=नासिकाख्यं। स्थानं=स्थानं। 'नासिकाऽत्र करणमेवे' ति तु केचित्। उच्यते=वर्णतत्त्ववेदिभिरभिधीयते।

नास्ति योगो—वर्णसमाम्नाये पाठो येषान्ते—अयोगाः, अयोगा अपि—वाहयन्ति=कार्यं निर्वाहयन्तीति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्च—अयोगवाहाः=अनुस्वार—विसर्ग—जिह्वामूलीयोपध्मानीय–यमाः। तत्रानुस्वारयमयोः स्थानस्योक्तत्वात्—अत्राऽयोगवाहपदेन पारिशेष्यात्–विसर्ग–जिह्वामूलीयो–पध्मानीया उच्यन्ते। आश्रयस्थानभागिनः=यदाश्रया विसर्गादयस्तस्यैव यत्स्थानं, तदेव स्थानमेतेषामित्यर्थः। यथा—'रामः' इत्यत्र अकाराश्रयस्य विसर्गस्य कण्ठस्थानत्वम्। 'हरिः' इत्यत्रेकाराश्रयस्य विसर्गस्य तालुस्थानतेति बोध्यम्।

भाषाटीका–अनुस्वारका, और कुं खुं गुं घु–इन ४ यमों का तथा ङमङणन इनका नासिका स्थान है। और इनसे बचे अयोगवाहों का—विसर्ग, जिह्वामूलीय, और उपध्मानीय का—अपनें आश्रय के स्थान के समान ही स्थान होता है। जैसे-'रामः' यहाँ अकार से परे जो विसर्ग है, उसका 'कण्ठ' स्थान है। 'हरिः' यहाँ इकार से पर विसर्गका 'तालु' स्थान है। इसी प्रकार और जगह भी जानना॥२२॥

[प॰भा॰]अयोगेति। अयोगवाहा इत्यनुस्वारादयश्चत्वार उच्यन्ते। अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵकᳵपौ च कण्ठ्यौ। तथा च औदव्रजिः–'अयोगवाहाः—अः इति विसर्जनीयः, ᳵकᳵखइति जिह्वामूलीयः, ᳵपᳵफ इत्युपध्मानीयः, अं इत्यनुस्वारः, हुँ नासिक्यः–इत्ययोगवाहाः'। न विद्यते योगः=संयोगो वर्णान्तरेण येषां ते अयोगवाहाः। आश्रयस्थानभागिन इति। आश्रयस्य ककारादेः स्थानं भजितुं शीलं येषां ते आश्रयस्थानभागिनः। अन्ये तु—यमानप्ययोगवाहान्मन्यन्ते। तेषां

१ 'भाजिनः' इति तु भाष्यसंमतः पाठः।

मतेन अयोगवाहशब्दः प्रत्यस्तमितावयवो रूढिशब्दोऽश्वकर्णवद्वेदितव्यः । अनुस्वारस्य स्वरूपमाह-अनुस्वारस्य प्रकृतिः पाणिनिनैव कथिता-'मोऽनुस्वार' इति।२२।

हकारादिषु परेष्वनुस्वारस्योच्चारणं नित्यं विधेयमिति विशेषमाह—

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः [1]स्वरानुगः ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं होः शषसेषु च ॥ २३ ॥

होः—हकारे रेफे च परे । शषसेषु च=शकारादिषु च परेषु । नित्यं = नित्यमेव । सर्वथैव । अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यः=अनुस्वार (ꣳ,ꣴ) एवोच्चारणीयः, नतु तत्र कदापि परसवर्णं भवति ।

अयमाशयः—'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति सूत्रेण ययि परे [यवल,-ञमङणन,-झभ,-घढध,- जबगडद,-खफछठथ चटत,-कप-एषु वर्णेषु परेषु] अनुस्वारस्य परसवर्णं भवति । यथा 'शान्तः' इत्यादि ।

यद्यपि रेफोऽपि यय्प्रत्याहारान्तर्गत इति तस्मिन्नपि परतः परसवर्णं प्राप्नोति, परन्तु-'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ती'ति भाष्यान्न तत्र परसवर्णं भवति। 'वा पदान्तस्ये'त्यनेन च पदान्ते ययि परतो विकल्पेन (कदाचित्) परसवर्णं भवति । यथा—त्वङ्करोषि, हरिम्भजति–इति । परन्तु-'ह-र-श-ष-स' इत्येतेषु पञ्चसु वर्णेषु परतस्तु कदाऽपि, केनाऽपि सूत्रेण परसवर्णं नैव भवति । अतो होःशषसेषु च परतः सर्वदैवाऽनुस्वार (ꣳꣴ) एवोच्चारणीय इति ।

सचाऽनुस्वारः कथमुच्चारणीय इत्याकाङ्क्षायामाह—अलाब्विति । अलाबुनः = तुम्बीफलस्य, या वीणा=वाद्यविशेषः = 'चण्डालिका' 'कण्डोलवीणा' इति च प्रसिद्धा विषवैद्य (संपेरा-कालवेलिया मदारी') वीणा,तद्वन्निर्घोषः=ध्वनिर्यस्यासौ-अलाबुवीणानिर्घोषः=तुम्बीवीणानिर्घोषवत्स्वरविशिष्टः । तस्य कुत्रोच्चारणमत आह–दन्तेति । दन्तमूले भवः—दन्तमूल्यः = सोऽनुस्वारो (ꣳꣴ) दन्तमूले स्थाने उच्चारणीयः । किञ्च स्वरमनुगच्छतीति स्वरानुगः=अकारादिस्वराऽनुगत एवाऽनुस्वार उच्चारणीयः। अचं विनाऽनुस्वारो नैव तिष्ठतीति यावत् ।

अनुस्वारोच्चारणे करणीयेऽलाबुवीणानिर्घोषवद्दन्तमूलकम्पनपूर्वकं स्वराऽनुगतोऽनुस्वार उच्चारणीयः, रेफे शषसहेषु च परेष्विति तु सरलोऽर्थः । बृंहितं,

---

[1] 'दन्तमूल्यः स्वरानन्' इतिभाष्यसंमतः पाठः ।

संरावः, अंशः, 'दंष्ट्रा'—कंसः—इत्याद्युदाहरणानि क्रमशो बोध्यानि। अनु = पश्चात्स्वराणां, स्वरति = शब्दायते इत्यनुस्वार इति योगार्थोऽप्यत्र दर्शितः—'स्वराऽनुग' इत्यनेनेति ध्येयम्।

भाषाटीका—हकार, रेफ, और शषस—ये ५ वर्ण परे रहते अनुस्वार (ठँ-या ॡ) का ही नित्य उच्चारण करना चाहिए। अर्थात्—इन अक्षरों के परे रहने पर अनुस्वार को कभी परसवर्ण नहीं होता है, किन्तु वह सदा अनुस्वार ही बना रहता है। इससे अन्य जगह में तो अनुस्वार को कदाचित् पर सवर्ण भी हो जाता है, जैसे—शान्तः, गुम्फितः—इत्यादि। परन्तु शषसह र इन ५ वर्णों के परे रहते सदा अनुस्वारका ही (गुं ॡ या गूं ठँ या रूप से ही) उच्चारण करना चाहिए। जैसे—अंशः (अठँशः) हंसः (हठँसः)—इत्यादि।

और इन पाँच अक्षरों के परे रहने पर अनुस्वार का उच्चारण करते समय—सपेरे की (कालबेलिया—मदारी, साँप पकड़ने वाले की) बजाने वाली तुम्बी की झनकार (गुञ्जान) की तरह ही गुञ्जते हुए, एवं दन्तों के मूल (जड़) को कंपाते हुए, मुख को बन्द करके अनुस्वार को अचों से (परे, साथ ही साथ) (ॡ या ॡ का) उच्चारण करना चाहिए॥ २३॥

[प० भा०] अलाब्विति। अलाबुस्तुम्बी, तस्या वीणाया निर्घोष इव शब्दो यस्य सोऽलाबुवीणानिर्घोषः। दन्तमूलं स्थानं तत्र भवो दन्तमूल्यः। स्वरान्=अकारादीन् अनु। भवतीति शेषः। हकाररेफयोः शषसेषु च नित्यं=सदा भवति। तथा च नारदः-

'आपद्यते मकारो रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्।
यवलेषु परसवर्णं, स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम्' इति।
'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥' इति।

इमं श्लोकमनुवादरूपं केचित् पठन्ति॥ २३॥

अनुस्वारादेरुच्चारणस्य प्रकारमाह—

अनुस्वारे, विवृत्यान्तु, विरामे चाऽक्षरद्वये।
द्विरोष्ठौ[1] तु विगृह्णीयाद्यत्रौकार-वकारयोः[2]॥ २४॥

१ 'ओष्ठ्यौ' पा०। २ 'यत्रौकारवकारयोः' इति तु मुद्रितः प्रचलितः पाठः।

अनुस्वारे इति। अनुस्वारे परतः–'हरिं वन्दे' इत्यादौ। विवृत्यान्तु=स्वरसन्ध्यभावे–'यऽईशे' इत्यादौ च। विरामे च='वाक्' इत्यादाववसाने च परतः। अक्षरद्वये=संयुक्ताक्षरद्वये च परतः। द्विः=द्विवारम्। ओष्ठौ विगृह्णीयात्=पृथक्कुर्यात्। कथमोष्ठौ पृथक्कुर्यादत आह—यथेति। यथा=येन प्रकारेण। औकारे, वकारे च उच्चारयितव्ये, द्विरोष्ठयोर्विग्रहः (=विभागः) क्रियते, तथैव अनुस्वारादौ परतः पूर्वाक्षरे उच्चारयितव्ये द्विरोष्ठौ पृथक् कुर्यात्।

अर्थात्तत्र गुरुत्वं द्विमात्रत्वं च कुर्यात्। अत्र—'यत्रौकारवकारयोः' इत्यपि पाठः। तत्र च—यत्र पदे ओकार, औकारो, वकारश्च–इमे सन्ति तत्रापि द्विरोष्ठौ विगृह्णीयादित्यर्थः" इति व्याख्येयम्।

विवरणं विवृतिः=स्वरयोः पृथगुच्चारणं। सा च विवृतिश्चतुर्विधा। ह्रस्वादिः, दीर्घादिः, उभयतोह्रस्वा, उभयतो दीर्घा च। क्रमश उदाहरणं यथा–'अग्नऽआयाहि वीतये'। 'ताऽअस्य'। 'विनऽइन्द्र'। 'नाभ्याऽआसीत्'। आसां क्रमशो नामानि–१ वत्साऽनुसृता, २ वत्सानुसारिणी, ३ पाक (वत्स) वती, ४ पिपीलिका-इति। स्पष्टं चेदं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्।

भाषाटीका—अनुस्वार, विवृति, विराम (अवसान), और संयुक्ताक्षर के [तथा औकार (ओकार) और वकार इनके[1] ?] पूर्व अच् के उच्चारण–करने के समय उसी प्रकार दोनों होठों को दो बार खोले, जैसे कि औकार और वकार के उच्चारण में में खोला जाता है। अर्थात्—इनके परे रहते पूर्वअच् को गुरु (द्विमात्रिक) उच्चारण करे। क्रमशः उदाहरण—हंसः। 'यऽईशे' 'पशून्पाहि। 'नाभ्याऽआसीत्' ॥ २४ ॥

अथ वर्णोच्चारणविधिं सामान्यत आह—

> [2]व्याघ्री यथाऽऽहरेत् पुत्रान्, दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
> भीता पतन-भेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

व्याघ्रीति। व्याघ्री=वने भवा व्याघ्रजातीया स्त्री। ग्राम्यव्याघ्री मार्जारी वा। यतः साऽपि व्याघ्रजातीयैवेति तद्विदः। यथा=येन प्रकारेण। पतनभेदाभ्यां

---

१ अयमंशो 'यत्रौकारवकारयो'रितिप्रचलितपाठानुसारेण बोध्यः। परन्तु स पाठोऽसङ्गत एव। २ 'यथा व्याघ्री' ति पाठान्तरम्।

भीता = निपात–दन्तदंशाभ्यां भीता सती । दंष्ट्राभ्यां = तीक्ष्णदन्तपङ्क्तिभ्यामेव । पुत्रान् = स्वबालवत्सान् । आहरेत् = देशान्तरं प्रापयेत् । न च पीडयेत्=तीक्ष्णदन्तैर्हरन्त्यपि यथा दंष्ट्राकोटिभिर्नैवतान् पीडयेत् । तद्वत्=तथैव मुखदन्तव्यापारविशेषेण वर्णानुच्चारयन्नपि, वर्णान्नाऽतिपीडयन् । वर्णान् प्रयोजयेत् = उच्चारयेत् । अर्थात्—व्याघ्री यथा स्वबालपुत्राणां देशान्तरनयनकाले तान् स्वदंष्ट्रासन्दंशे सुदृढं गृह्णाति, अन्यथा तेषां पतनमेव स्यात्, परं सुदृढं धारयन्त्यपि सा तान् दन्तैर्नाऽतीव पीडयति, अन्यथा दन्ताघातेन तेषां पीडा स्यात्, एवमेव वर्णोच्चारणप्रसक्तेन विदुषा वर्णा अश्लथंसुस्पष्टं यथावन्मुखदन्तकण्ठादिव्यापारेणोच्चारणीयाः, अन्यथा वर्णानां मात्राभङ्गादिदोषापत्तिः, एवं सुदृढं व्यापारेण वर्णोच्चारणेऽपि, ते वर्णाः स्वव्यापारेण नातीव पीडनीयाः, अन्यथा वर्णानां पीडितत्वादिदोषप्रसङ्गः स्यात् ।

भाषाटीका—जैसे व्याघ्री और बिल्ली अपने छोटे २ बच्चों को इधर-उधर ले जाते समय, उनके गिर पड़ने के भय से उन्हें अपनी दाढों (जाड़ों) से जोर से दबाती है । परन्तु दांत न लग जाएं—इस भय से ज्यादा जोर से भी नहीं दबाती है । उसी प्रकार—वर्णों का उच्चारण करते समय, मुख दन्त कण्ठ आदि का व्यापार स्पष्ट और पूरा२ करना चाहिए, नहीं तो वर्णों का ठीक २ उच्चारण नहीं होगा, और उनकी मात्रा आदि भङ्ग हो जाएगीं । परन्तु विशेष व्यापार (जोर) से वर्णों का उच्चारण करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए, कि—वर्णों को ज्यादा पीडा न पहुंचे, और वे ज्यादा जोर से न उच्चारण किए जाएं । नहीं तो वर्ण पीडित और दुष्ट हो जाएगें । वर्णोंके उच्चारण में यही सावधानी रखनी चाहिए । अर्थात्—वर्णों का उच्चारण स्थान प्रयत्न आदि से पूरा २ जोर लगा कर करना चाहिए, परन्तु अत्यधिक (आवश्यकता से अधिक) जोर भी न लगने पाए, नहीं तो वर्णों का ठीक २ उच्चारण नहीं होगा । जैसे—भोजन बनाने में कम आँच लगने से वह कच्चा रह जायगा, ज्यादा आँच से जल जायगा । अतः समुचित आँच लगने से ही ठीक २ रसोई बनती है, वैसे ही वर्णों के उच्चारण में भी उचित व्यापार ही करना चाहिए, कम व ज्यादा नहीं ॥ २५ ॥

अथ रङ्गस्य (ँ) उच्चारणे प्रकारमाह—

यथा सौराष्ट्रिका नारी 'तक्रँ' इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः 'खे अराँ इव खेद्या' ॥ २६ ॥

यथेति। सौराष्ट्रिका=सुराष्ट्र (काठियावाड-गुजरात) देशोद्भवा। नारी=स्त्री। निरनुनासिकं, सानुस्वारं तक्रमिति शब्दं-तकँ इत्यभिभाषते = ङकारोच्चारणरहितं सानुनासिकमुच्चारयति। एवम् = इत्थं। ङकारोच्चारणरहिता एव, रङ्गाः = नकार-मकारस्थानिक-रु-पूर्ववर्णस्थानिकानुनासिकाः। प्रयोक्तव्याः=उच्चारणीयाः। उदाहरति—खे अरा २ँ॥ऽइवेति। अत्र 'अरा २ँ॥ ऽइवे'ति रङ्गस्योच्चारणे ङकार-शून्यः केवलोऽनुनासिकः सौराष्ट्राङ्गनाऽनुनासिकोच्चारणवदुच्चारणीय इत्याशयः। 'खे अराँ २॥ऽइव खेदया' इति वैदिकं क्वाचित्कं वाक्यम्।

नकारमकारयो रुत्वे कृते, तदुपधाया योऽनुनासिको विधीयते स 'रङ्ग' इति, 'उपधारञ्जन' मिति चोच्यते। तदुक्तम्—

'उपधारञ्जनं कुर्यान्नमो रुकरणे सति' इति। यथा 'सँस्कर्त्ता' इति, 'चक्रिँ-स्त्रायस्व' इति च रङ्गोदाहरणम्।

भाषाटीका—नकार और मकार के स्थान में ('समः सुटि' 'नश्छव्यप्रशान्' इत्यादि सूत्रों से) जो रु आदेश होता है, उसकी उपधा को 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इस सूत्र से जो अनुनासिक रूप रञ्जन होता है, उसको वैदिक परिभाषा में 'रङ्ग' कहते हैं। जैसे 'सँस्कर्त्ता' इत्यादि। 'खे अराँ२॥ऽइव'इत्यादि स्थलों में जहाँ रङ्ग हो, उसका उच्चारण उसी प्रकार (ङकारोच्चारण से रहित) करना चाहिए, जैसे सौराष्ट्र (काठियावाड़-गुजरात-जूनागढ़) देशकी स्त्रियाँ स्वभावतः 'तक्र' या 'तक्रं' इत्यादि को 'तकँ' ऐसा (ङकार से शून्य) उच्चारण किया करती हैं। अर्थात्–'रङ्ग' के उच्चारण में ङकार का उच्चारण न होकर केवल अनुनासिक-मात्रका ही उच्चारण होना चाहिए। अर्थात्—'अराँ' को 'अराँङ्' ऐसा उच्चारण नहीं करना चाहिए। रङ्ग के आगे '२॥' ऐसा चिह्न उसकी २॥ मात्रा बताने के लिए है। दो मात्रा दीर्घ की, आधी मात्रा रङ्गकी, इस प्रकार २॥ मात्रा हुई ॥२६॥

अथ पुनरपि विशेषं दर्शयन् रङ्गोच्चारणविधिं चतुर्भिः श्लोकैर्दर्शयति—

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्–नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम्।
[1]दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीत[2] पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥ २७॥

---

१ 'दीर्घस्वरं' पा०। २ 'प्रयुञ्जीयाद' मुद्रितः पाठः। तत्र 'प्रयुञ्जीत' इति पाठः स्यात्। छान्दसो वा प्रयोगः।

रङ्गवर्णमिति । रङ्गवर्णं = नकारमकारस्थानिकरुकारोपधाभूताऽऽनुनासिक्यरूपरङ्गवन्तं वर्णं । (तथा) प्रयुञ्जीरन् = तथा विद्वांस उच्चारयेयुः । (यथा स खलु रङ्गवर्णः—) पूर्वमक्षरं=स्व–(रङ्ग)—पूर्ववर्त्तिनमचं । नो ग्रसेत् = नैव व्याप्नुयात् । अर्थात्–रङ्गपूर्ववर्त्तिनो वर्णस्य (अचः), रङ्गस्य च भेदेनैवोच्चारणं कर्त्तव्यं, नतु तयोः परस्परं सङ्करः कर्त्तव्यः ।

एतदेव स्वयमेव स्पष्टीकुरुते–दीर्घं स्वरमिति । दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीत = आदौ रङ्गपूर्ववर्त्तिनं स्वरं दीर्घं = द्विमात्रिकं, प्रयुञ्ज्यात् । पश्चात्=स्वरस्य (अचः) दीर्घस्योच्चारणानन्तरञ्च । नासिक्यम् = आनुनासिक्यं । रङ्गम् । आचरेत् = विदधीत । दीर्घस्वरोच्चारणानन्तरमेव आनुनासिक्यस्य (रङ्गस्य) उच्चारणं कर्त्तव्यं, नतु स दीर्घः स्वर एवाऽनुनासिक उच्चारणीयः ।

तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायां—

'रङ्गे चैव समुत्पन्ने न ग्राह्यं पूर्वमक्षरम् ।
स्वरं दीर्घं प्रयुञ्जीत पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥' इति ।

भाषाटीका—नकार मकार को रुत्व होने पर, उससे पूर्ववर्ती स्वर (अच्) को जो अनुनासिक होता है, उसे वैदिक परिभाषा में 'रङ्ग' या 'उपधारञ्जन' कहते हैं । [अतः 'रङ्ग' शब्द भावघञन्त ही है । कुछ विद्वानों नें 'रज्यतेऽनेन पूर्वो वर्ण इति 'रङ्गः' । 'रञ्जयति पूर्ववर्णमिति रङ्गः'–यह विग्रह कर कर्म में या कर्त्ता में घञ् किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि–रङ्ग को पाणिनिजीने पृथक् वर्ण तो माना नहीं है । केवल उपधा में स्थित वर्ण का रञ्जन = गुणाधान–मात्र ही 'रङ्ग' माना गया है । हाँ, रङ्ग को अर्द्धानुस्वार ही कुछ लोग मानते हैं, उस मत में कथंचित् यह विग्रह भी साधु हो सकता है] ।

अर्थात्--रङ्ग (ँ) का उच्चारण विद्वानों को इस प्रकार करना चाहिए, कि,–पूर्व (अच्) अक्षर का ग्रास न हो, अर्थात् उसे भी अनुनासिक नहीं कर देना चाहिए । किन्तु जिस स्वर को 'रङ्ग' (अनुनासिक) हुआ हो, उसको पहिले तो दीर्घ उच्चारण करना चाहिए, उसके वाद अनुनासिक का उच्चारण करना चाहिए ॥२७॥

अथ रङ्गस्य द्विमात्रतां दर्शयति—

हृदये चैकमात्रस्तु, अर्द्धमात्रस्तु मूर्द्धनि ।
नासिकायां तथार्द्धं च, रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ॥ २८ ॥

हृदये इति। रङ्गः—हृदये एकमात्र उच्चारणीयः, मूर्धनि = मस्तके तु। अर्द्धमात्र उच्चारणीयः। नासिकायाञ्च—अर्द्धमात्र उच्चारणीयः। एवं रङ्गस्य = आनुनासिक्यस्य। द्विमात्रता—भवति। अतो द्विमात्रो रङ्गः करणीयः। अतएव 'लोका २॥ ऽअकल्पयन्' इत्यादौ रङ्गस्य (ँ) इत्यस्याऽग्रे '२॥' इत्यङ्कलेखनं दृश्यते। मात्राद्वयं रङ्गस्य, तत्र १॥ मात्रा हृदयादावन्तरुच्चारिता भवति, अर्द्धा-मात्रा तु वहिर्नासिकायामुच्चार्यते, अर्द्धामात्रा च विवृतेरित्याशयः।

भाषाटीका—रङ्ग की १ मात्रा हृदय में उच्चारित होती है, आधी मात्रा मूर्ध (शिर) में उच्चारित होती है। अवशिष्ट आधी मात्रा नाक में बोली जाती है। इस प्रकार रङ्ग की दो मात्रा हो जाती है। अतः रङ्गको द्विमात्रिक उच्चारण करना चाहिये ॥ २८ ॥

रङ्गोच्चारणप्रकारमाह—

हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वनन्[1] ।
मार्दवं च द्विमात्रं च, 'जघन्वाँ' इति निदर्शनम् ॥ २९ ॥

हृदयादिति। हृदयात्=हृदयप्रदेशात्। उत्करे=हस्तमात्रे ऊर्ध्वदेशे, तिष्ठन्= स्थितो रङ्गः—कांस्येन समनुस्वनन् = (समनुस्वरन् वा) = कांस्यनिर्मितवाद्य-घोषेण, समं=तुल्यम्-अनुस्वनन्=ध्वनिं कुर्वन्। अत्र शकन्ध्वादित्वात्पररूपमिति केचित्। ['कांस्येन समनुच्चरन्' इति, 'कांस्येन समनिस्वनः' इति त्वन्ये पठन्ति]। मार्दवंच=मृदुताञ्च। द्विमात्रं च=द्विमात्रतां च। भावप्रधानो निर्देशः। 'दधत्। रङ्ग उच्चार्यते' इति शेषः। 'जघन्वाँ' इति=इत्यादि। निदर्शनं = जघन्वाँ उ हरिभिः सम्भृतक्रतु विन्द्रवृत्रं मनुषे गातुयन्नपः। (१ मं० ५२ सू०) इति रङ्गस्योदाहरणं बोध्यम्।

तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायां—

'नस्त उत्पद्यते रङ्गः कांस्येन समनिस्वनः।
मृदुश्चैव द्विमात्रश्च, 'वृष्टिमा २ँ॥ ऽइ' (व) निदर्शनम् ॥' इति।

तत्र 'नस्त' इत्यस्य—नासिकात—इत्यर्थः।

भाषाटीका—रङ्ग हृदय प्रदेश से लेकर एक हाथ (२४ अंगुल) ऊपर

---

१ 'कांस्येन समनिस्वनः' पा०।

तक (शिर तक) व्याप्त होकर, कांस्य पात्र (या कांस्य निर्मित वाद्य) की ध्वनि की तरह मृदु और दीर्घ ध्वनि को करता है। रङ्ग के उदाहरण—'जघन्वाँ 'लोका२ँ॥ ऽअकल्पयन्' । 'वृष्टिमा २ँ॥ ऽइव' इत्यादि समझने चाहिए॥ २९॥

मध्ये तु कम्पयेत् कम्पमुभौ पार्श्वौ [1]समुन्नयेत् ।
सरङ्गं कम्पयेत् कम्पं 'रथ्यो३वे'ति[2] निदर्शनम् ॥३०॥

अथ रङ्गोच्चारणविधिं, तदीयमात्रां, तत्स्थानभेदं च निरूप्य कम्प ( )-स्वरोच्चारणप्रकारमाह—मध्ये त्विति। कम्पं = कम्पाख्यं स्वरचिह्न-विशेषं। (रङ्गमित्यन्ये)। मध्ये = स्वरोच्चारणमध्यसमये। कम्पयेत् = कम्पयन्निवोच्चारयेत्। ननु कथं कम्पयेदत आह—उभाविति। उभौ पार्श्वौ=स्वरस्य आद्यन्तभागौ। [कम्पस्ये ति 'शेषः।] ['स्वराऽऽरम्भ—तदवसानभागौ' इत्यन्ये। समौ= (कम्पस्य) तुल्यौ, उच्चौ, यथा भवेत् = यथा भवेतां—तथा कम्पयेत्। 'समौ भवेत्=समौ भावयेत्। कुर्यात्। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं भूधातुरत्रेत्यन्ये' व्याचक्षते]। 'समुन्नये'दिति तु गौडाः पठन्ति। उच्चै रुत्थापयेदिति तदर्थः। वयन्तु—कम्पं=स्वरिताग्रस्थं कम्पाख्यं _१ _३ ॥ स्वरचिह्नविशेषं। सरङ्गं = रङ्गसत्त्वे रङ्ग-सहितमेव। सानुनासिकमेव। (२ँ॥–१ँ॥_१–३) कम्पयेत्। कम्पस्योदाहरणं श्रौतमाह—रथ्यो_३ वेतीति। रथ्यो_३ वयस्वतः' 'क्व _१ वोश्वाः' इत्यादौ। सोऽयं कम्प ऋग्वेदादौ प्रसिद्धः। तदुक्तं स्वराङ्कुशशिक्षायां—

'स्वरितस्याऽनुरूपेण कम्पं कुर्वीत शास्त्रवित्।
ह्रस्वे ह्रस्वं विजानीयाद्दीर्घे दीर्घं तथैव च॥' इति।

नन्वयं स्वरः कस्मात्कम्पते इति चेच्छृणु—

'पूर्वाऽङ्गेण हतं (ह्रुतं) पूर्वं, पराऽङ्गेण तु धारितम्।
व्यञ्जनेन द्विधा भिन्नः स्वरो भीतस्तु कम्पते॥' इति।

तत्र—पूर्वाऽङ्गेण व्यञ्जनेन पूर्वो भागो हतः, (ह्रुतो वा), एवं पराङ्गेण व्यञ्जनेन च परभागो धारितः। एवमेकोऽपि स्वरो द्विधा भिन्नः सन्-व्यञ्जनद्वयसंयोगे भयादिव कम्पते इत्यर्थो बोध्यः। 'कम्पस्वरो बह्वृचानां प्रसिद्ध' इति ऋक्प्रातिशाख्ये।

भाषाटीका—कम्प स्वर के उच्चारण के समय उसके आदि और अन्त के भागों को तो सम (कम्पशून्य, उच्च स्वर से) ही उच्चारण करे। और मध्य के भाग को

1 'समौ भवेत्' इति प्रचलितः पाठः। 2 'रथीवे' ति सर्वत्र पाठः।

जहाँ रङ्ग हो वहाँ रङ्ग (ँ अनुनासिक) के सहित ही कम्पित करे । कम्पस्वर का उदाहरण—'रथी ३' । व' 'क्ष १' वो श्वाः' इत्यादि ऋग्वेद से जानना । रङ्ग के आगे जो २ँ॥ या १ँ॥ यह सानुनासिक का कम्पका चिह्न है, वहाँ रङ्ग के साथ ही कम्प स्वर काभी कम्पन होता है । रथीव की जगह 'रथ्यो' यह पाठ भी सम्भव है । रायः स्याम रथ्यो ३ वयस्वतः (५ मं. ५४सू) ॥३०॥

एतावता वर्णोच्चारणविधिमुक्त्वोपसंहरन्नाह—

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या, नाऽव्यक्ता, न च पीडिताः ।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३१ ॥

एवमिति । एवम्=इत्थं । पूर्वोक्तप्रकारेण, वक्ष्यमाणप्रकारेण च । वर्णाः= अक्षराणि । प्रयोक्तव्याः = सावधानेन सता उच्चारणीयाः । तं प्रकारमेव पुनराह— नेति । न अव्यक्ताः=मधुरा अपि—नाऽस्पष्टाः । न शिथिलस्थानप्रयत्नोच्चारिताः । न च=नैव च । पीडिताः=आहताः । सुव्यक्ता अपि कर्कशस्थानप्रयत्नवाय्वाघातादिना पीडिता इव, आहता इव, दष्टा इव वा नोच्चारणीया इत्यर्थः ।

शुद्धवर्णोच्चारणे फलमप्याह—सम्यगिति । वर्णानां—सम्यक्=शुद्धस्थानप्रयत्नादिना, प्रयोगेण = उच्चारणेन । ब्रह्मलोके=परलोके—ब्रह्मधामनि । इह लोके तु ब्राह्मण (पण्डित) समवाये च । महीयते=सत्क्रियते । पूज्यते च । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

'मधुरञ्च—नचाऽव्यक्तं, व्यक्तञ्चाऽपि—न पीडितम् ।
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः सङ्करङ्गताः ॥' इति ।

भाषाटीका—इस प्रकार वर्णों का स्थान प्रयत्न आदि से शुद्ध और स्पष्टही उच्चारण करना चाहिए । अर्थात्–वर्णों का उच्चारण मधुर (कोमल) तो हो, पर मधुर होते हुए भी वह शिथिल और अस्पष्ट न हो । एवं वर्णोंका उच्चारण स्पष्ट और व्यक्त तो हो, पर कर्कश (ज्यादा जोर देकर) उच्चारण न हो–इसका ध्यान रखना चाहिए । अर्थात्—वर्णों का उच्चारण न ज्यादा ढीला ढाला हो, न ज्यादा कड़ा ही हो । किन्तु वर्णोंका स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण ही करना चाहिए । वर्णों के शुद्ध उच्चारण करने वाले को परलोक में तो ब्रह्मलोक में मानकी प्राप्ति होती है, और इस लोक में विद्वानों में आदर एवं सत्कार प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

पाठकर्त्तृदोषानाह—

गीती, शीघ्री, शिरःकम्पी, [1]यथालिखित-पाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः ॥ ३२ ॥

गीतीति । गीती = गीतं गायन्निव पाठं कुर्वाणः । शीघ्री=त्वरया पाठस्य कर्त्ता । शिरःकम्पी=शिरःकम्पनपूर्वकं पठितुं शीलः । यथालिखितपाठकः = पुस्तकं दृष्ट्वा यथालिखितं पाठशीलः । अर्थानभिज्ञत्वाच्छुद्धाऽशुद्धविचारशून्यः । 'तथा-लिखितपाठकः' इति सर्वत्र प्रसिद्धे मुद्रिते पाठे तु—तथा = तथैव । लिखितपाठकः = वेदशास्त्राणि लिखित्वा पठनशीलः । मेधाशून्यत्वाद् ग्रन्थधारणेऽसमर्थो जडमतिः पुस्तकस्थापितविद्य इत्यर्थो बोध्यः । [परं 'यथालिखितपाठकः' इत्येव तु याज्ञवल्क्यशिक्षाऽनुसारी, सुन्दरश्च पाठः] । अनर्थज्ञः = अर्थज्ञानशून्यः । पाठमात्रसारः । अल्पकण्ठः = स्वल्पकण्ठः । अस्पष्टकण्ठः । सङ्कुचितकण्ठः । एते षट् पाठकेषु=पठितृषु । अधमाः=निन्दिताः । 'विद्वद्भिः कथ्यन्ते' इति शेषः ।

भाषाटीका—गाने की तरह गाते हुए पढ़ने वाला, ज्यादा शीघ्रता से पढ़ने वाला, शिर हिला२ कर पढ़ने वाला, जैसा पुस्तकमें लिखा है,वैसे ही–विना समझे-बूझे ही-पढ़ने वाला, या विना गुरु के स्वयं पुस्तक देखकर पढ़ने वाला, अर्थ को नहीं जानने वाला, तथा जिसका गला साफ न हो—ये छै ६ प्रकार के पढ़नेवाले लोग अधम है । अर्थात्—वेदशास्त्र आदिको गाना गाने की तरह, या हिलते हुए, या विना अर्थ समझे—नहीं पढ़ना चाहिए । और वेद को कण्ठ करके ही पढ़ना चाहिए । वेदको लिख करके या पुस्तक पर—पढ़ना निषिद्ध है ॥३२॥

इत्थं पाठकगतदोषानुक्त्वा, सम्प्रति पाठकेषु ये गुणास्तानप्याह—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठके[2] गुणाः ॥ ३३ ॥

माधुर्यमिति । माधुर्यं = श्रवणमधुरता । मार्दवं । कोमलतया वर्णोच्चारणम् । अक्षरव्यक्तिः = कोमलत्वेऽप्यक्षराणां स्पष्टतयोच्चारणम् । पदच्छेदः=पदानां पार्थक्येनोच्चारणम् । तु=पदच्छेदेऽपि । सुस्वरः = शोभनः स्वरः । उदात्तादिस्वरप्रक्रमभङ्गाऽभावः । कर्णप्रियो ध्वनिश्च । धैर्यं = धीरता । अश्रान्तत्वम् । गाम्भीर्यम् ।

१ 'तथालिखितपाठकः' २ 'पाठकाः गुणाः' ।

लयसमर्थञ्च = तच्च धैर्यं लयसमर्थमपि भवेत् । वर्णोच्चारणे—स्वरताललयादि-प्रदर्शने नैपुण्यम् । लयः = स्वराऽपरपर्यायोऽनुरणनविशेषः । स्वोचिततत्तत्स्थानादिपर्यन्तं वर्णानां प्रापणञ्च । एते षट्—पाठके-गुणाः = शोभाधायका गुणा बोध्याः । 'पाठका गुणाः' इत्यशुद्धः पाठ इति भाति ।

भाषाटीका—१ मधुरता, (कोमलता), २ अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण, ३ पदों का विभाग, ४ सुन्दर और शुद्ध स्वर (ध्वनि, या उदात्त आदिस्वरों का उच्चारण), ५ धैर्य, ६ लय (वर्णों को समुचित स्थान प्रयत्न स्वर आदि से उच्चारण करने का सामर्थ्य)—ये पाठकों के छै ६ गुण हैं। अर्थात्—इस प्रकार शुद्धता पूर्वक पढ़ने वाला पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३३ ॥

शङ्कितं [1]भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं[2] शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ॥ ३४ ॥

एतावता वर्णोच्चारणविधिं सफलमुक्त्वाऽनुचितोच्चारणनिषेद्धुमाह—शङ्कितमिति । शङ्कितं = शङ्कितमिव ,वर्णं नैव वदेत् । भीतं = भयान्वितमिव वर्णोच्चारणं नैव कुर्यात् । उद्घुष्टम्=उच्चतरस्वरान्वितम् । मध्येमध्ये समाहतमिव, आक्षिप्तमिव च-वर्णं नोच्चारयेत् । (उद्घृष्टं = परस्परमुच्चैस्तरां घृष्टमिव)। अव्यक्तम् = अस्पष्टं-नैव वदेत् । अनुनासिकं=सानुनासिकमिव वर्णं नोच्चारयेत् । काकस्वरं = काकस्य स्वरमिव—कर्कशं वर्णं नैव वदेत् । शिरसिगं=शिरोगतमिव=ऊर्ध्वंगतमिव वर्णं नैव वदेत् । तथा=तथैव । स्थानविवर्जितं=स्थानभ्रष्टं—वर्णं नैव वदेत् ।

भाषाटीका—वर्णों का उच्चारण-शङ्कित और भयातुर की तरह (घबड़ाहट में होकर) न करे। बीच २ में वर्णों को पकड़ता हुआ सा, ठोकता हुआ सा (उखड़ा हुआ सा) उच्चारण न करे। कौवे की तरह कटुस्वर में भी वर्णों को न बोले। शिर में ही (भीतर ही भीतर) गुन गुनाता हुआ न बोले। स्थान भ्रष्ट भाषण न करे। जैसे—'श' को 'स' न बोले ॥ ३४ ॥

उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं
विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।

1 'उद्घृष्टं' पा० । 2 'शिरसिगतं' पा० ।

निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च
वदेन्न दीनं, न तु सानुनास्यम् ॥३५॥

उपांश्विति। उपांशु = नितरां मन्दस्वरेण–उच्चारणं नैव कुर्यात्। दष्टं = दन्तैः पीडितमिव, भक्षितमिव-वर्णं नैव वदेत्। त्वरितं = शीघ्रं। शीघ्रतया वर्णं नैवोच्चारयेत्। निरस्तं=दूरे निक्षिप्तमिव। इतस्ततो विकीर्णमिव। प्रक्षिप्तमिव च–न वदेत्। विलम्बितं = कालविलम्बेन, मध्ये–मध्ये विश्रम्य–नैव वदेत्। गद्गदितं = गद्गदाक्षरं–नैव वदेत्। प्रगीतं=गीतमिव गायन्–न वदेत्। निष्पीडितं=नितरां पीडितमिव। परस्परं प्रतिहतमिव, प्रबलेन प्रयत्नेन–न वदेत्। ग्रस्तपदाक्षरञ्च–सङ्कीर्णवर्णं पदं, वाक्यं च न वदेत्। दीनं=निरुत्साहं, मलिनमिव। न वदेत्। सानुनास्यं=सानुनासिकमिव–वर्णं, पदं, वाक्यं वा। न तु=नैव कदाचित्। वदेत् = उच्चारयेत्। अत्र केषांचिद्दोषाणां पौनरुक्त्यं तु स्पष्टार्थमेवेति न तद्दोषायेति बोध्यम्।

भाषाटीका—अक्षरों को मनही मन न गुनगुनावे। वर्णों को जीभ दबाकर भी न बोले। जल्दी २ न बोले। वर्णों को फेंकता हुआ सा न बोले। विलम्ब करके भी न बोले। तुतला कर, एवं मुख के भीतर ही बुदबुदाता हुआ न बोले। गावे की तरह गाता हुआ भी न बोले। वर्णों को पीड़ा न पहुंचावे। अक्षरों व पदों को बीच २ में खा न जाए, किन्तु पूरा २ शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण करे। दीन की तरह न बोले, और नाक में भी न बोले॥ ३५॥

[1]अथ प्रातरादिभेदेन ध्वनिभेदमाह—

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन
स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव
चक्राह्व-संकूजित-सन्निभेन॥ ३६॥

प्रातरिति। उरःस्थितेन=हृदयस्थेन। शार्दूलरुतोपमेन = व्याघ्रगर्जितसदृशेन। मेघगर्जितेनेव। स्वरेण = गम्भीरेण ध्वनिना। प्रातः = पूर्वाह्णे। वेदं–नित्यं पठेत्=सदैवाऽधीयीत। मध्यन्दिने=मध्याह्ने तु। कण्ठगतेन = कण्ठोपगतेन। चक्राह्वसंकूजितसंनिभेन चैव=रथाङ्गाह्वपक्षिरुतोपमेन स्वरेण चैव। वेदं सदाऽभ्यसेत्।

भाषाटीका—प्रातःकाल व्याघ्र (बघेर, शेर चीता) के स्वर (दहाड़) की तरह हृदयस्थित मेघगम्भीर ध्वनि से ही सदा वेद का अभ्यास करना चाहिए। और मध्याह्न काल में गले से निकली हुई चकवे की तरह कुछ तेज ध्वनि से ही वेदाभ्यास करना चाहिए।

तारन्तु विद्यात्सवनं तृतीयं,
शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसाऽन्यभृतस्वराणां[1]
तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥ ३७ ॥

तारमिति। तारन्तु=अत्युच्चैर्ध्वनिन्तु। तृतीयं सवनं=तार्तीयसोमाभिषवकालपाठ्यमन्त्रेपूपयुज्यमानं। सायङ्काले उच्चारणीयमिति यावत्। विद्यात्=जानीयात्। तच्च=तारस्वरेण पठनं, तृतीयं सवनम्। उच्चतरध्वनिरिति यावत्। शिरोगतं=मूर्द्धस्थानगतं। सदा=सदैव। प्रयोज्यं=प्रयोक्तव्यम्। ननु कथं तथा प्रयोज्यमत आह—मयूरेति। मयूर—हंस-कोकिल-स्वरसदृशेन। नादेन=अत्युच्चतारध्वनिना। शिरःस्थितेन=शिरोगतेन। 'सदा प्रयोज्य' मिति पूर्वेणाऽन्वयो बोध्यः। तथा च, ऋग्वेदे-(२ मण्डले ४ अनुवाके १२)—'उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्रऽइव सवनेषु शंससि।'

भाषाटीका—और सायं काल में अति उच्च ध्वनि से वेद का पाठ करना चाहिए। यही अत्युच्च ध्वनि तृतीय सवन (अग्निष्टोम यज्ञ में सायंकाल सोमलता के कूटने के समय मन्त्रों के उच्चारण) में भी उपयोग में आती है। और इस अत्युच्च (तार) ध्वनि का उच्चारण—मोर, और हंस एवं कोयल की ध्वनि की तरह शिरो भाग में ही —करना चाहिऐ॥ ३७ ॥

स्वर—काल—स्थान—भेदैर्वर्णानाम्भेदमुक्त्वा, प्रयत्नतोऽपि सम्प्रति भेदमाह—

अचोऽस्पृष्टा, यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः [2]शलस्तथा।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता, [निबोधाऽनुप्रदानतः] ॥३८॥

अच इति। अचः=अ इ उ,ऋ लृ,ए ओ ऐ औ-इति स्वराः। अस्पृष्टाः=विवृताः। स्पर्शाऽभावरूप—विवृत—प्रयत्नवन्तः। यणस्तु=यवरलास्तु। ईषत्=ईषत्स्पृष्टाः।

१ 'हंसाऽम्बुभृते'. ति पा०। तत्र=अम्बुभृतो—मेघः। २ 'शरः' पा०।

तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—'ईषत्स्पृष्टास्तथाऽन्तःस्थाः' इति। ईषत्स्पृष्टा, 'ईषद्विवृताश्चे'ति तु शेखरे नागेशभट्टा अस्यार्थमाहुः। शलः = शषसहाः। नेमस्पृष्टाः = अर्द्धस्पृष्टाः। ईषद्विवृतप्रयत्नवन्त इत्यर्थः। 'नेम' इत्यर्द्धे। तेन शलामजपेक्षया ईषद्विवृतत्वं, यणपेक्षयाऽधिकविवृतत्वं चेति लब्धम्। शेषा हलः=एतदपेक्षयाऽविशिष्टाः कादयो मपर्यन्ता हलः। स्पृष्टाः = स्पृष्टप्रयत्नवन्तः। प्रोक्ताः=उक्ताः। 'शङ्करादिभिर्वर्णतत्त्ववेदिभि' रिति शेषः। (ह्रस्वस्याऽवर्णस्य च प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायान्तु विवृतम्)। अयं प्रयत्नभेदेन वर्णानां भेदः।

अनुप्रदानतः = बाह्यप्रयत्नभेदेन वर्णभेदम्। निबोध = जानीहि। मया स्पष्टं कथ्यमानं सावधानतया शृणु।

भाषाटीका—पाँच प्रयत्नोंमें से—अचों का (अ आ इ ई इत्यादि स्वरों का) 'विवृत' प्रयत्न है। य र ल व—का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है। श ष स ह—का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म—इन का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है। (ह्रस्व अकारका प्रयोगमें संवृत प्रयत्न है, और प्रक्रियादशामें 'विवृत' प्रयत्न है)।

अब बाह्यप्रयत्नोंसे वर्णोंको भेद मैं कहता हूं, सावधान हो सुनो॥ ३८॥

[प०भा०] स्वरतः, कालतः, स्थानतो वर्णानां भेदः कथितोऽधुना प्रयत्नतोऽपि भेदः कथ्यते। प्रकर्षेण यत्नो वर्णोच्चारणं प्रत्यस्पृष्टादिभिः स प्रयत्नः।

अजिति। अजिति प्रत्याहारग्रहणम्। अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ एते अस्पृष्टाः। यणः=यवरलाः। एते ईषत्स्पृष्टाः। शरिति प्रत्याहारग्रहणं, शषसा एते नेमस्पृष्टाः। अर्द्धस्पृष्टा इत्यर्थः। तथेति पादपूरणार्थः। शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता इति। हल इति प्रत्याहारग्रहणं हकारादारभ्याऽऽलकारात्। शेष इति। उपयुक्तादन्यः शेषः। यणः, शरश्च ईषत्स्पृष्टास्तद्वर्जिताः हलः स्पृष्टाः स्वस्थानैः कथिताः। निबोधानुप्रदानत इति। अनुप्रदानमिति स्वस्थानादिकं घोषादि। अनुप्रकर्षेण दीयते इति अनुप्रदानम्। "द्वौ नादानुप्रदानौ" इत्यौदव्रजिः। अनुप्रदानतो हेतोः—वर्णानां भेदं शृणु॥ ३८॥

अथ पञ्चमं बाह्यप्रयत्नकृतं वर्णभेदमाह—

[निबोधाऽनु प्रदानतः—]

[1]'अमोऽनुनासिका नह्यौ, नादिनो हझषः स्मृताः।

1 'अमोऽनुनासिका नह्यो'। 'अह्यो'। 'अह्यौ' पा०।

ईषन्नादा [1]यण्जशः, श्वासिनस्तु खफादयः ॥ ३९ ॥
['ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात्--']।

अम इति। 'अइउण्' इत्यकारमारभ्य 'ञमङणनम्' इत्येतत्पर्यन्तं मकारेण 'अम्' प्रत्याहारः। अमः = अ इ उ ऋ ऌ, ऐ ओ, ऐ औ, (ह) य व (र), ल, ञ-म-ङ-ण-नेति वर्णाः। अनुनासिकाः। न हौ = हकाररेफौ वर्जयित्वा। तौ तु नाऽनुनासिकावित्यर्थः। 'अहः' इति पाठे—अमो विशेषणम्। ह—झषः = ह—झ—भ-घ-ढ-धाः। नादिनः स्मृताः = विद्वद्भिर्नादप्रयत्नवन्तः कथिताः। संवार-घोषयोरुपलक्षणमिदं, तेन—ह झ भ घ ढ धानां संवार-नाद-घोष- प्रयत्न—वत्त्वमिति लभ्यते। यण्जशः = य व र ल ज ब ग ड दा वर्णाः। ईषन्नादाः = अल्पनादवन्तः। (संवार-ईषन्नाद-घोष-प्रयत्नवन्तः)। खफादयः = खफछठथाः। श्वासिनः = श्वास-प्रयत्नवन्तः। विवाराऽघोषयोरप्युपलक्षणमिदम्। तेन विवार-श्वासा-ऽघोषप्रयत्न-वन्त इमे इति लब्धम्। चरः = चटतकप—शषसान्। ईषच्छ्वासान् = ईषच्छ्वास-प्रयत्नवतः। विद्यात् = जानीयात्।

भाषाटीका—अ इ उ, ऋ ऌ, ए ओ, ऐ औ, य व ल, ञ म ङ ण न—ये अनुनासिक (नासिकाख्य बाह्यप्रयत्नवाले) हैं। ह झ भ घ ढ ध—इनका संवार नाद घोष प्रयत्न है। य व र ल, ज ब ग ड द—इनका 'ईषन्नाद' (संवार ईषन्नाद और घोष) प्रयत्न है। ख फ छ ठ थ-इनका—विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न है। और च ट त क प, श ष स—इनका ईषच्छ्वास (विवार, ईषच्छ्वास और अघोष) प्रयत्न है॥ ३९½॥

[पञ्जिकाभाष्यं] अमिति प्रत्याहारग्रहणं-ञ म ङ ण न म्। अनुनासिका इति। स्वस्थानैरधिकाः—अनुगता नासिकामनुभवन्तीति अनुनासिकाः। ञमङणनमोऽनुनासिकानिमान् जानीयात्। तथा च पाणिनिः—'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' इति। अह इति। अकारो, रेफश्च, हकारो, झषश्च। प्रत्याहारग्रहणं झष इति, झभघढधष्। एते अह्रादयो-नादिनः स्मर्यन्ते। नाद एषामस्तीति नादिनः। अपरः पाठः—'अमोऽनुनासिका न हौ'। अम इति प्रत्याहारग्रहणम्—अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ, ह य व र ल, ञ म ङ ण न म् एते अनुनासिकाः। न हौ=न तु

१ 'यणश्चैव'। 'यण्-जश्च' पा०।

रेफहकारौ—अमावपि सन्तौ । नादिनो हझषः स्मृताः । हकारो झषश्च नादिनः। झषः=झभघढधषः । अस्यार्थे पाठद्वयात् अमां हकाररेफवर्जितानां विकल्पेनानुनासिकत्वम्, ञमां तु नित्यम् । तथा च शौनकः—

'सचादयो या विहिता विवृत्तयः प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः' इति ।

तथा—'उकारश्चेतिकरणे युक्तो रक्तः पृक्तो द्राघितः शाकलेनेगति । अकाररेफयोः प्रथमे पाठे नादित्वं, द्वितीयपाठे हकाररेफयोर्नासिकत्वप्रतिषेधः । ईषन्नादा यण्जशस्त्विति । यणः कथिताः । जशस्तु जकाराद्याः शकारेण प्रत्याहारः ज ब ग ड द श् । एते यण् जशश्च ईषन्मनाक् नादाः । श्वासिनस्तु खफादय इति । खफछठथाः–एते श्वासिनः । श्वास एषामस्तीति श्वासिनः । 'श्वासो घोषाणां तृतीयात् प्रथमानामुभावघोषश्च थानां युग्माः सोष्माणम्'' इति चौदव्रजिः ॥३९॥

इत्थं वर्णोच्चारणादिशिक्षामभिधाय, 'वर्णानां, तच्छास्त्रस्य च प्रशंसामाह—

[ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात्[1]] गोर्धामैतत्त्र प्रचक्षते ।
[2]दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि ॥ ४० ॥

गोर्धामेति । एतत् = उपदिष्टं वर्णजातमिदम् । उपदिष्टा इमे वर्णाः । इदं शिक्षाख्यं शास्त्रं च । 'अइउ' णित्यादिसूत्रचतुर्दशकं च । गोः=वाण्याः । सरस्वत्याः । धाम = आश्रयस्थानमिति । विभूतिश्चेति । 'धाम–रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति कोशः । प्रचक्षते = कथयन्ति वर्णतत्त्वविदः । इदं हि वर्णतत्त्वं सारस्वतरहस्यभूतमिति तान्त्रिका (विद्वांसो) विदन्तीति यावत् । येन=गोर्धाम्ना । सारस्वतेन तेजसा । वर्णरूपेण वाणीधाम्ना च । इदं = दृश्यमानं सर्वं पदार्थजातम् । भुवि = जगति । व्यापितं = व्याप्तमस्ति । [तत् = तद्रहस्यं । वर्णोच्चारणादिरहस्यं] । दाक्षीपुत्रेण पाणिनिना = पाणिनिमुनिना । 'शिक्षायामस्यां प्रतिपादित'मिति शेषः ।

यद्वा=एतत्—पाणिनिप्रोक्तमिदं शिक्षाशास्त्रं । गोः=वाण्याः । धाम=आश्रयभूतम् । वाणीस्वरूपप्रतिपादकत्वाच्च तदाश्रयत्वं शिक्षाशास्त्रस्येति ध्येयम्। प्रचक्षते=इति कथयन्ति । आदरेण कथयन्ति । 'इदं' शिक्षाशास्त्रं सरस्वत्या आश्रयभूत' मिति ते कथयन्तीति भावः । किञ्च–येन = प्रसिद्धेन । दाक्षीपुत्रेण

१ अयमंशः पूर्वोक्तवत् । २ 'दाक्षीपुत्रो' पा० ।

पाणिनिना—इदं = सरस्वतीधामभूतं शिक्षाशास्त्रं,भुवि=पृथिव्यां, व्यापितं=प्रवर्त्तितं। विस्तरेण प्रदर्शितमित्यर्थः। यच्छब्दोऽत्र प्रसिद्धार्थकः। 'तेनेदं व्यापितं भुवि' इत्यप्यन्ये पठन्ति।

भाषाटीका—दाक्षीपुत्र पाणिनि के द्वारा कहा गया यह शिक्षाशास्त्र और ये ६४ वर्ण—जिनसे सम्पूर्ण शब्दार्थमय जगत् व्याप्त है–सरस्वती के और वाणी (भाषा) के आधार भूत हैं। इनके अभ्यास से शीघ्र ही सरस्वती जी की विशेष कृपा प्राप्त हो जाती है–ऐसा मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता लोग कहते हैं॥ ४०॥

[प०भा०] ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यादिति। चर इति प्रत्याहारग्रहणं च ट त क प श ष स र्। एतन्नामकान् ईषच्छ्वासान् जानीयात्। गोर्द्धामैतत्प्रचक्षत इति। गौंत्राचः धाम स्थानम्–एतच्छास्त्रमाचक्षते वर्णविदः।–शास्त्रानुपूर्व्यमिति ये उक्ताः॥४०–५१॥

'षडङ्गो वेदोऽध्येय' इत्युच्यते, तत्र कानि षड्वेदाङ्गानीति जिज्ञासामपाकुर्वन्नाह—

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ ४१॥

छन्द इति। छन्दः = पिङ्गलाद्युक्तं छन्दःशास्त्रं। वेदस्य-पादौ। पादवद्गमनस्थानीयोच्चारणसाधनम्। गायत्र्यादिछन्दो विनोच्चारणाऽसम्भवात्पादस्थानीयता तस्य। अथ कल्पः = कात्यायनादिप्रोक्तकल्पसूत्राणि। श्रौतसूत्राणि। हस्तौ = वेदस्य हस्तस्थानीयौ। पठ्यते = इति श्रुतिस्मृत्यादौ गीयते। ज्योतिषामयनं = ज्योतिःशास्त्रं। चक्षुः=वेदस्य नेत्रस्थानीयम्। निरुक्तं=निघण्टुः, निरुक्तञ्च। श्रोत्रमुच्यते=वेदस्य कर्णस्थानीयमित्युच्यते॥

भाषाटीका—वेदका पैर छन्द शास्त्र है। कल्पसूत्र (यज्ञ आदि की विधि बताने वाले श्रौतसूत्र) वेद के हाथ हैं। ज्यौतिष शास्त्र वेद का चक्षु है। निरुक्त और निघण्टु वेद के कान हैं॥ ४१॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ ४२॥

शिक्षेति। वेदस्य-घ्राणन्तु=नासिका तु। शिक्षा = पाणिनीयादिप्रोक्तं शिक्षाशास्त्रम्। अस्तीति शेषः। व्याकरणं = पाणिनीयादि व्याकरणशास्त्रन्तु। मुखं = वेदस्य मुखं स्मृतं = प्रोक्तम्।

तस्मात् = वेदस्योक्ताङ्गयुक्तत्वात्। साङ्गम्=अङ्गसहितमेव। वेदमधीत्य पुमान्। ब्रह्मलोके महीयते = पूज्यते।

भाषाटीका—शिक्षा--वेद की नासिका स्थनीय है। व्याकरण--वेद का मुख है। क्योंकि व्याकरण के विना शब्दों का शुद्ध उच्चारण ही नहीं हो सकता है। इस लिए वेद को इन सब अंगों के सहित (पूरा २) ही पढ़ने से मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। और वहाँ पूजित होता है। अतः यह शिक्षा अवश्य पढ़नी चाहिए ॥ ४२ ॥

सामवेदे उदात्तादिस्वरप्रदर्शनस्य प्रकारमाह—

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां
प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्द्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितं [1]द्रुतं च,
कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥ ४३ ॥

उदात्तमिति। प्रदेशिनीमूल-निविष्टमूर्धा = तर्जनीमूलनिविष्टाग्रभागः। अङ्गुलीनां वृषः = श्रेष्ठः। अङ्गुष्ठ इति यावत्। उदात्तं–स्वरम्–आख्याति = सामवेदे कथयति। प्रदर्शयति। सूचयति। अन्तस्य = कनिष्ठिकाभागस्य, समीपम्—उपान्तं, तस्य मध्ये–उपान्तमध्ये = कनिष्ठिकासमीपवर्त्यनामिकामध्यपर्वमध्ये। विविष्टमूर्द्धाऽङ्गुष्ठश्च–द्रुतं--प्रचलन्। (धृतमिति पाठान्तरम्)। स्वरितमाख्याति=सूचयति। कनिष्ठिकायां=कनिष्ठिकामध्ये–स्थितोऽङ्गुष्ठश्च। अनुदात्तमाख्याति=सूचयति।

भाषाटीका—अङ्गुष्ठ के अग्रभाग को तर्जनी के नीचे के पर्व पर रखकर सामवेद में उदात्तस्वर का उच्चारण (निर्देश) किया जाता है। अनामिका के मध्य भाग में अङ्गूठा रखकर स्वरित का उच्चारण किया जाता है। कनिष्ठिका में (छोटी अंगुली पर) अंगूठा रखकर अनुदात्त का बोध कराया जाता है ॥४३॥

पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषयन् स्पष्टीकरोति—

उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात्, प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम्।
निहतं तु कनिष्ठिक्यां, स्वरितोपकनिष्ठिकाम्[2] ॥ ४४ ॥

उदात्तमिति। प्रदेशिनीं=तर्जनीम्। उदात्तम्=उदात्तस्वरसूचनोपयोगिनीं। विद्यात् = जानीयात्। प्रचयं = स्वरितात्परमनुदात्तम्। अङ्गुलिं मध्यतः=मध्यमाङ्गुलौ। विद्यात् = जानीयात्। प्रचयोच्चारणे मध्यमाङ्गुलीं साधनं विद्यादिति

---

१ 'धृतम्' पा०। २ 'स्वरमुपकनिष्ठिकम्' इत्यन्ये पठन्ति। स्वारं=स्वरितम्।

यावत् । निहतम् = अनुदात्तं स्वरम् । कनिष्ठिक्यां = कनिष्ठाऽङ्गुलौ । विद्यात् । स्वरितस्वरन्तु—उपकनिष्ठिकम् = कनिष्ठिकासमीपवर्त्यनामाङ्गुलिमध्ये । विद्यात्= जानीयात् । सामवेदे हि अङ्गुलीपर्वभिरङ्गुष्ठयोगेनेत्थं स्वरसूचनमिति भावः ।

भाषाटीका—सामवेद में—तर्जनी से उदात्त की सूचना दी जाती है। प्रचय (स्वरित से पर अनुदात्त) को मध्यमाङ्गुली से सूचित (उच्चारण) किया जाता है। अनुदात्त को कनिष्ठिका (छोटी अंगुली) से, और स्वरित को अनामिका से सूचित किया जाता है। अर्थात्–जैसे यजुर्वेद आदि में हाथ से उदात्त आदि स्वर सूचित किए जाते हैं, वैसे ही सामवेद में इन अंगुलियों के पर्व भाग पर अंगुष्ठको रखकर उदात्त आदि स्वरों का निर्देश किया जाता है ॥४४॥

उदात्तादिस्वराणामवस्थानस्य नवभेदान् स्थानभेदेनाऽऽह—

अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तमनुदात्तं नीचस्वरितम् ।
मध्योदात्तं, स्वरितं, द्व्युदात्तं, त्र्युदात्तमिति—नव पदशय्या ॥४५॥

अन्तोदात्तमिति । अन्ते उदात्तो वर्णो यत्र तत्–अन्तोदात्तं पदम् । एवमग्रेऽपि बोध्यम्'। नव = नवसङ्ख्याकाः । पदशय्याः = पदरूपाः स्थानभेदाः । उदात्तादिस्वराऽवस्थानस्य नवैवेमे प्रकाराः सम्भवन्तीति यावत् ॥ ४५ ॥

भाषाटीका—१ अन्तोदात्त पद, २ आद्युदात्त पद, ३ उदात्त पद, ४ अनुदात्त पद. ५ नीच स्वरित, ६ मध्योदात्त पद, ७ स्वरित पद, ८ द्व्युदात्त पद, ९ त्र्युदात्त पद—ये नौ प्रकार के पद—स्वरोंकी शय्या (स्थान) हैं ॥ ४५ ॥

नवानामप्युदाहरणानि स्वयमेवाह—

अग्निः, सोमः, प्र वो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती ।
अग्निरित्यन्तोदात्तं, सोम इत्याद्युदात्तम् ।
प्रेत्युदात्तं, व इत्यनुदात्तं, वीर्यं नीचस्वरितम् ॥४६॥

अग्निरिति । अग्निरित्यादौ कस्मिन्पदे कः स्वर इति विभज्य दर्शयति—अग्निरित्यन्तोदात्तमिति । 'अग्निः'—इत्यन्तोदात्तं पदम् प्रत्ययस्वरेण । 'सोम'—इत्याद्युदात्तं 'वृषादीनां च' इति सूत्रेण । 'प्र' इत्युदात्तं पदम् । अत्र 'निपाता आद्युदात्ताः' इत्यनेनोदात्तता । 'वु' इत्यनुदात्तं पदम्–'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्यनेन ।

'वीर्यम्' इति नीचस्वरितम् । यस्य स्वरितस्याऽधो भागे स्वरितस्य चिह्नं दीयते तन्नीचस्वरितं । 'बिल्वभक्ष्यवीर्याणि च्छन्दसि' (फिट् सू० ७७) इत्यनेनान्त-स्वरितत्वात् 'वीर्यं' इति यजुर्वेदे, वीर्यं इति तु ऋग्वेदे स्वरसञ्चारः । ॥ ४६ ॥

हविषां मध्योदात्तं, स्वरिति स्वरितम् ।
बृहस्पतिरिति द्व्युदात्तमिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम् ॥४७॥

हविषाम—इति मध्योदात्तं पदम् । तथाहि—'फिषोऽन्त उदात्त' इत्यनेन हविश्शब्दस्याऽन्तोदात्तत्वेन, 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनेन आमोऽनुदात्तत्वेन 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित' इत्यामः स्वरितत्वे 'हविषाम्' इति मध्योदात्तं पदम् । 'स्वः' इति स्वरितं-'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' (फि० ७४) इत्यनेन । 'बृहस्पतिः' इति द्व्युदात्तं, 'बृ' इत्यस्य 'स्प' इत्यस्य च तत्रोदात्तत्वात् । 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' इत्यनेन पूर्वोत्तरपदयोः प्रकृतिस्वरेणाऽऽद्युदात्तत्वात् । 'इन्द्रा बृहस्पती वयं' इति त्र्युदात्तं पदम् । एकस्मिन्पदे इकारस्य, 'बृ' इत्यस्य, 'स्प' इत्यस्य चोदात्तत्वात् । त्र्युदात्तस्य बृहस्पतिशब्दस्येन्द्रशब्देन समासे 'देवताद्वन्द्वे चे'ति सूत्रेणोभयोः पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत्प्रकृतिस्वरे च तत्र त्र्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् ॥४७॥

भाषाटीका—पूर्वोक्त नौ पदशय्याओं के-अग्निः सोमः इत्यादि ९ उदाहरण हैं ।

स्वर परिचय—अनुदात्तके नीचे—ऐसा स्वर होता है । जिसपर कोई स्वर न लगा हो वह (प्रायः) उदात्त होता है । जिसके ऊपर ऐसा ' स्वर हो वह स्वरित होता है । स्वरितसे परे जिन वर्णों पर स्वर न लगा हो वे 'प्रचय' होते हैं । यदि उनसे आगे उदात्त या स्वरित परे न हो तो जिसके नीचे ऐसा या ऐसा, या ऐसा स्वर हो वह भी स्वरितका ही भेद है-ऐसा जानना ॥४६-४७॥

अनुदात्तादीनामुदाहरणान्युक्त्वा तदुच्चारणे हस्तनिर्देशप्रकारमाह—

अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो, मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः ।
स्वरितः कर्णमूलीयः, सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥४८॥

अनुदात्तइति । हृदि=हृदयप्रदेशे । अध इति यावत् । अनुदात्तः=अनुदात्तस्वरः । ज्ञेयः=बोध्यः । एवञ्च अनुदात्तोच्चारणकाले हृदये (अधो भागे) हस्तो निक्षेप्यः । मूर्ध्नि=मस्तके । उदात्तः=उदात्तस्वरः । उदाहृतः=कथितः । अत उदात्तोच्चा-

रणे मूर्ध्नि हस्तो निक्षेप्यः । स्वरितः = स्वरितस्वरः । कर्णमूले भवः—कर्णमूलीयः = कर्णमूले तिष्ठति । अतः स्वरितोच्चारणकाले दक्षिणकर्णसमीपे हस्तचालनं विधेयम् । प्रचयः = स्वरितात्परोऽनुदात्तः । स च—'प्रचय'इत्युच्यते । सर्वास्ये = सर्वमुखवृत्ते । नासिकाग्रे इति यावत् । स्मृतः = कथितः । अतः प्रचयोच्चारणे नासिकाग्रतो हस्तो निक्षेप्यः । प्रचयलक्षणञ्च—'उदात्तान्निहतः—स्वारः, स्वरितात्प्रचयो भवेत्' । इति । 'स्वरितात्परोऽनुदात्तः प्रचय इत्युच्यते' इति हि तदर्थः । तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायां—

'स्वरितादनुदात्ता ये प्रचयांस्तान् प्रचक्षते ।
एकस्वरानपि च तानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ॥' इति ।

प्रचयोदाहरणञ्च यथा—'गुणानान्त्वा' इति । अत्र स्वरितात् 'ना' इत्यतः परः—'त्वा' इत्यनुदात्तः 'प्रचय' इत्युच्यते ।

भाषाटीका—अनुदात्त स्वर का स्थान हृदय है । अतः अनुदात्त के उच्चारणमें हाथको हृदय के पास रखना चाहिए । उदात्त स्वर का स्थान मस्तक है, अतः उदात्तके उच्चारणमें शिर के पास हाथ ले जाना चाहिए । स्वरित का स्थान कान का मूल भाग है, अतः स्वरितके उच्चारण में हाथको कान के पास रखना चाहिए । प्रचय—अर्थात् स्वरित से परे जो अनुदात्त अक्षर—उनके उच्चारणमें हाथको मुख के सामने (नाक के अग्रभागमें) रखना चाहिए ।

उदाहरण—'गुणानान्त्वा' । इसमें 'गु' यह अनुदात्त है । 'णा' यह उदात्त है । 'ना' यह स्वरित है । और स्वरित 'ना'—इस से परे 'त्वा' यह प्रचय (एकश्रुति) है । ऐसेही अन्यत्र भी समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

मात्राकालिकादिवर्णोच्चारणं कथं भवतीत्यत आह—

चाषस्तु वदते मात्रां, द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु, नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम् ॥४९॥

चाषस्त्वति । चाषः = किकीदिविनामा पक्षी । मात्रां वदते = मात्राकालिकं रुतमुच्चारयति । 'वदते' इत्यात्मनेपदमार्षम् । एवं च मात्राकालिका वर्णा अपि तथैव (तावता कालेन) पुंसोच्चारणीयाः । वायसः = काकः । द्विमात्रं—रुतं करोति । तद्वद्द्विमात्रिका दीर्घाऽऽकारादयःसमुच्चारणीयाः । शिखी = मयूरः । त्रिमात्रं—रौति=शब्दं करोति । त्रिमात्रिकाणां प्लुतानां तथैवोच्चारणं कर्त्तव्यम् ।

नकुलस्तु—अर्द्धमात्रकम् = अर्द्धमात्रं रुतं करोति। एवञ्च तद्वदेवाऽर्द्धमात्रिकाणां (सन्ध्यक्षरादिगताऽकारादीनां) वर्णानां विदुषोच्चारणं विधेयमित्यर्थः।

भाषाटीका—चाष (चमकीले नीले रंग का गरुड़ जाति का छोटा पक्षी-'नीलटांस' 'नीलकण्ठ') एकमात्राकालिक शब्द का उच्चारण करता है। कौआ-द्विमात्रिक उच्चारण करता है। मयूर—तीन मात्रा का उच्चारण करता है। नेउला-आधी मात्रा का उच्चारण करता है। अतः उन्हीं के अनुसार—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों का, तथा अर्द्धमात्रिक (ए ओ के पूर्वभाग के अकार तथा हल्) का उच्चारण करना चाहिए। अर्थात्—एकमात्रा, दोमात्रा आदि (वाले वर्णों) का उच्चारण इन पक्षियों आदि से सीखना चाहिए॥ ४९॥

अब्रह्मचर्यादिदुर्गुरुतश्चाऽधीतस्य वेदस्य, वेदाङ्गानां च निन्दामाह—

कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति [1]पापाऽहेरिव किल्बिषात्॥५०॥

कुतीर्थादिति। कुतीर्थात् = अविधितः, ब्रह्मचर्यादिविधिं विनैव, गुरुं विनैव, तपश्चर्यादिरहितादाचार्याच्च। 'तीर्थं शास्त्राऽध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु। योनौ जलावतारे च' इति कोशः। आगतं = समधिगतं ब्रह्म। वेदा, वेदाङ्गादिकं, शास्त्रं च। दग्धं = भस्मीभूतमिव निःसत्त्वं, हतप्रभावं च—भवति। अपवर्णम् = अशुद्धाऽस्पष्टवर्णोच्चारणादिपूर्वकमधीतं च (ब्रह्म-वेदः)। 'अववर्ण' मित्यपि पाठान्तरम्। भक्षितं = निगीर्णं। भुक्तमिव विकलाङ्गम्। श्वशृगालादिभक्षित-शवादिवद्विकलाऽङ्गं। भवतीति शेषः। तस्य = तादृशस्य वेदस्य, तदङ्गस्य च। पाठे = अध्ययने, पारायणादौ च। पापाहेरिव = लोकोद्वेजकात्सविषाद्दन्दशूकादिव। सविषसर्पेणोग्रदंष्ट्रयादष्टस्य यथा मोक्षाशा=जीविताशा नास्ति, तथैव। यद्वा पापाऽहेरिव=दुष्टसर्पस्येव। किल्बिषात् = पापात्। मोक्षो नास्ति। अर्थात्—तादृशवेदाध्ययनेन पापमेव भवति, न तस्मात्पापात्कदाचिदपि मोक्षः (परिवर्जनं) सम्भवति।

परेतु—'पापर्द्धेरिव किल्बिषात्' इत्येवाऽत्र शुद्धः पाठः। यथा—पापर्द्धेः = व्याधस्य, किल्बिषात् = जीववधोद्भवात् पापात्, कदापि निष्कृतिर्न भवति, मोक्षो (निष्कृतिः) नैव भवतीत्यर्थः। 'पापर्द्धिर्मृगयाऽऽखेटो मृगव्याऽऽच्छोदने अपि' इति हैमकोषात्पापर्द्धिः = मृगया। तदाचरणाद्व्याधोऽपि तथैव। तस्य (तादृशकुतीर्था-

[1] 'पापर्द्धेरिव' इत्यपि पठन्ति।

गताऽशुद्धवेदपाठिनः) तस्मात्पापात्कल्पान्तेऽपि मोक्षो नास्तीत्यर्थं' इत्याहुः।

भाषाटीका—ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा आदि विधि के विना, तथा गुरु के विना ही, एवं निषिद्ध गुरु से भी पढ़ा हुआ वेद और वेदाङ्ग–'दग्ध' (जले हुए की तरह) निःसत्त्व, (निर्वीर्य) कहलाता है। और अक्षरों के यथार्थ (शुद्ध) उच्चारण नहीं करने से वेद और वेदाङ्ग–'भक्षित' कहलाता है। ऐसे वेद वेदाङ्ग के पाठ से मनुष्य पापी होता है, और उस पाप से उसका छुटकारा उसी प्रकार कभी नहीं होता है, जैसे पापी सांप का (जीवों को सदा खाने वाले सांप का) उस पाप से कभी छुटकारा नहीं होता है। या–पापो दुष्ट जहरीले सांप के काटने पर मनुष्य का जैसे बचना असम्भव हो जाता है, वैसे ही उस पाप से बचना भी अत्यन्त ही असम्भव है।

यहाँ हमारा कल्पित शुद्ध अर्थ—जैसे पापर्द्धि (पारधी, कसाई, बहेलिया) का जीव हिंसा के घोर पाप से छुटकारा असम्भव है, वैसे ही विना गुरु के, और विना विधि के वेद और वेदाङ्गों के पढ़ने वाले का, अशुद्ध उच्चारण करके अक्षरों की हिंसा करनेवाले का उस घोर पाप से छुटकारा असम्भव है॥ ५०॥

यथाविधि सद्गुरोः सम्प्रदायशुद्धादधीतस्य वेदस्य प्रशंसामाह—

सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं[1] सुव्यवस्थितम्।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते॥ ५१॥

सुतीर्थादिति। सुतीर्थात्=यथाविधि, सद्गुरोः। [तीर्थं–गुरुः, उपायश्च]। आगतं=प्राप्तम्। अधीतम्। अतएव–व्यक्तं=स्पष्टं। स्वर–स्थान–प्रयत्नाऽनुप्रदानादिसंस्कृतम्। शोभन आम्नायः=गुरुपरम्परा, यस्य तत्–स्वाम्नायं=सम्प्रदायशुद्धम्। ['स्वाम्नाय्य' मिति स्वशुद्धः पाठो भाति। स्वार्थे ष्यञा वा कथञ्चिदुपपाद्यः]। अतएव–सुव्यवस्थितं=शुद्धपाठव्यवस्थाऽन्वितम्। असन्दिग्धम्। किञ्च–सुस्वरेण=शोभनेन परिशुद्धेन, स्वरेण=उदात्तादिना, सुवक्त्रेण=यथोचितेन ध्वनिना (लयेन) च। प्रयुक्तं=समन्वितम्। ब्रह्म=वेदः। [साङ्गाश्चत्वारस्त्रयो वा वेदाः]। राजते=शोभते। ईदृशं ब्रह्म फलदं भवतीत्यर्थः।

भाषाटीका—सद्गुरु से विधिपूर्वक पढ़ा हुआ, अच्छी तरह अभ्यास किया हुआ, परम्पराप्राप्त परिशुद्ध पाठों के निश्चय पूर्वक सुन्दर शुद्ध स्वरों से,

[1] 'स्वाम्नाय्यं'–मुद्रितः पाठः।

समुचित मधुर ध्वनि से-पढ़े गए वेद और वेदांग-शोभित होते हैं, और कार्यक्षम और वीर्यवान् एवं प्रभाव-शाली होते हैं। अतः वेदों को यथाविधि परम्परा से शुद्ध सद्गुरु से पढ़ कर, उदात्त आदि स्वरों के साथ, मधुर और समयोचित लयसे पढ़ना चाहिए। ५१।

स्वरवर्णादिदुष्टस्य मन्त्रस्य, वाक्यस्य च न फलजनकत्वं, प्रत्युत विपरीत-फलप्रदत्वमेवेत्याह—

मन्त्रो हीनः स्वरतो, वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो, न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ ५२ ॥

मन्त्रो हीन इति। मन्त्रः = वैदिको मन्त्रः। साधुशब्दमात्रस्य यज्ञादौ प्रयुज्यमानस्योपलक्षणमिदम्। स्वरेण-इति-स्वरतः = स्वोचितेनोदात्तादिस्वरेण। वर्णतः=वर्णेन च। अक्षरेण च। हीनः = रहितः। अतएव—मिथ्याप्रयुक्तः= यदर्थप्रतिपादनाय प्रयुक्तस्ततोऽर्थान्तरं स्वरवर्णदोषात् प्रतिपादयन्, तमर्थं नैवाऽऽह। अतएव निरर्थकमेव प्रयुक्तः। तमर्थं न आह = अभिमतमर्थं नैवाह। यमर्थं बाधयितुं स मन्त्रः प्रयुक्तस्तमर्थं स्वरवर्णदोषान्नाऽभिधत्ते। यथा-'स्वजन'शब्दः, श्वजनशब्दश्चैकवर्णभेदात्स्वार्थमबोधयन्ननर्थमेव बोधयति। सः=ऋत्विक्प्रयुक्तो दुष्टः शब्दः। वागेव वज्रो—हिंसकत्वात्—वाग्वज्रः=ऋत्विग्वाग्रूपो वज्रः। यजमानं=यज्ञं कुर्वाणं, यजमानमेव। हिनस्ति=नाशयति। नाशयेद्वा। छान्दसो लिङर्थे लेट् लकारः। यथा ऋत्विक्कृताद्धोमाद्यजमानस्य स्वर्गादि फलं, तथैव ऋत्विक्कृतादपराधाद्यजमाने प्रत्यवायोत्पत्तिरपीति भावः। अत्रोदाहरण-माह—यथेति। यथा-इन्द्रशत्रुः=वृत्राऽसुरः। स्वरतो=स्वरस्यापराधात्। षष्ठ्यर्थे आद्यादित्वात्तसिः। स्वरतोऽपराधात्=विकृतस्वरोच्चारणरूपाद्दोषात्। 'इन्द्रेण हत' इति शेषः।

अथवा—यथा 'इन्द्रशत्रु'शब्दः स्वरकृतादपराधात्, वाग्वज्रो भूत्वा—यजमानं वृत्रं (यजमानपुत्रं वृत्रं) हतवानित्यर्थः।

अयमत्राशयः—पुरा त्वष्टुर्विश्वरूपाख्ये पुत्रे इन्द्रेण हते सति, क्रुद्धस्त्वष्टा पुत्रान्तरं वृत्राख्यमुत्पिपादयिषुराभिचारिकं यागं कर्तुमारब्धवान्। तत्र च 'इन्द्र-शत्रुर्विवर्द्धस्वे'ति मन्त्र ऊहितः। अत्र च ... यौगिक

एव, नतु रूढोऽरातिपर्यायः । तत्राऽर्थभेदाऽभावात् । तेन इन्द्रस्य शत्रुः = शातयिता—नाशयितेत्यर्थस्याभिप्रेतत्वात्षष्ठीतत्पुरुष इष्ट आसीत् । षष्ठीतत्पुरुषे च—इन्द्रश॒त्रुर्वि॑ वर्द्धस्वे॑ति षष्ठीतत्पुरुषप्रयुक्त इन्द्रशत्रुशब्दस्य 'समासस्ये'ति सूत्रेणाऽन्तोदात्तः स्वरः ('त्रु' इत्यस्योदात्तत्वं) कर्त्तुमुचित आसीत् । परन्तु प्रमादात्त्वष्ट्रा 'इन्द्र॑शत्रुर्विवर्द्धस्वे' त्यत्र' इन्द्रशत्रु'शब्दे इकारस्योदात्तत्वं कृतम् । तेन 'इन्द्रशत्रु'—शब्द आद्युदात्तो जातः । 'इन्द्रशत्रु'शब्दे आद्युदात्तता च—इन्द्रः शत्रुर्नाशयिता यस्य वृत्रस्येत्यर्थके—बहुव्रीहिसमासे एव सम्भवति ।—तथाहि, इ॒न्द्र' शब्दो रन्नन्तत्वादाद्युदात्तः, 'श॒त्रु' शब्दोऽपि क्रुन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः । उभयोर्बहुव्रीहिसमासे 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति सूत्रेण पूर्वपदेन्द्रशब्दीयस्वरस्य आद्युदात्तत्वस्यैव प्रकृतिभावेनाऽवस्थाने कृते, शेषनिघातेन ('अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्यनेन) अवशिष्टानामनुदात्तत्वे च जाते, 'इन्द्र॑शत्रु'शब्द आद्युदात्तो भवति । तेन च इन्द्र एव वृत्रस्य—शत्रुः = हन्ता—जातः । इष्टश्चार्थोऽत्र—'इन्द्रस्य शत्रुः = हन्ता'—इत्येवाऽऽसीत् । तस्मिन्नर्थे च 'इ॒न्द्र॒श॒त्रु॒शब्दो'ऽन्तोदात्त एव प्रयोक्तुमुचित आसीत् । तथा हि—'इन्द्र'शब्देन 'श॒त्रु' शब्दस्य षष्ठीतत्पुरुषसमासे हि 'समासस्ये'ति सूत्रेण 'इन्द्रशत्रु' रिति समासस्याऽन्तोदात्तत्वे विहिते, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इति शास्त्रेण तमन्तोदात्तमचं विहाय, सर्वेषां शिष्टानामुदात्तादीनामचां—निघाते (अनुदात्तत्वे) कृते, इन्द्रशत्रु—शब्दस्यान्तः('त्रु' शब्दोकारः) उदात्तोऽवशिष्यते—'इ॒न्द्र॒श॒त्रु'—रिति । तथा प्रयोगमकृत्वा प्रमादात्—'इन्द्र॑शत्रु' रित्याद्युदात्तः स शब्दस्त्वष्ट्रा प्रयुक्त इति तेन स्वरापराधेन यदर्थं यज्ञ आरब्धः, स एव वृत्रो महेन्द्रेणैव हत इति । स्पष्टं चेदं सर्वं पस्पशाह्निके महाभाष्ये ।

भाषाटीका—मन्त्र और वाक्य आदि में—उदात्त अनुदात्त आदि स्वरोंके, तथा वर्णोंके विकृत (अशुद्ध) हो जानेसे—जिस अर्थके लिए वे उच्चारण किए गए हैं, उस अर्थको (अभीष्ट अर्थको) नहीं कह कर, स्वर आदिके दोषसे दूसरे ही अर्थको कहने लगते हैं । जैसे—'स्वजन' शब्द—'आत्मीय' अर्थको कहनेके लिए प्रयोग किया गया है, पर 'स्व' की (दन्त्य सकारकी) जगह 'श्व' ऐसा अशुद्ध वर्ण (तालव्य शकार) उच्चारण कर देनेसे, वह—'आत्मीयजन' इस अर्थको न कह कर 'कुत्ते—लोग' ऐसे अनुचित अर्थको एक वर्णके दोषसे ही कहने लगता है,

उसी प्रकार-स्वरके दोषसे भी-जिस अर्थके लिए मन्त्रका या पदका, या वाक्यका प्रयोग किया गया है, वे मन्त्र या वाक्य-उस अर्थको न कहकर-दूसरे ही अर्थको कहने लगते हैं। और वह अशुद्ध मन्त्र या वाक्य—वज्रकी तरह मारक होकर यजमानको ही नष्ट करदेता है। जैसे-'इन्द्रशत्रु' (र्विवर्द्धस्व) शब्दमें 'इन्द्र शत्रु वि वर्द्धस्व' ऐसा शत्रुके 'त्रु' को, होता को उदात्त बोलना चाहिए था, परन्तु वैसा न बोलकर प्रमाद (गलती) से 'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' ऐसा 'इन्द्र' के इकारको ही उदात्त (होता ने) उच्चारण कर दिया, जिससे अर्थका अनर्थ होगया। और वह शब्द ही वज्र बन गया, एवं उसने यजमानको (वृत्रासुरको) ही नष्ट कर दिया।

भावार्थ—त्वष्टा नाम का वेद और पुराण प्रसिद्ध एक असुर था। उसके 'विश्वरूप' नामक एक पुत्र था, जिसके तीन शिर थे। उसने बड़ी घोर तपस्या की। जिससे इन्द्र घबड़ा उठा। और छल कपटसे उस विश्वरूपको इन्द्रने मार दिया। जिससे त्वष्टा बहुत क्रुद्ध हुआ। और, इन्द्रको मार सकनेवाले पुत्र (वृत्रासुर) को पैदा करनेके लिए वह आभिचारिक यज्ञ (कृत्या—मारणयज्ञ) करनेमें प्रवृत्त हुआ। उस यज्ञमें 'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व (इन्द्रको मारनेवाले वृत्रासुर, बढ़ो) ऐसा मन्त्रका ऊह (कल्पना) करके ऋत्विजोंने अग्निमें आहुति छोड़ी। पर 'इन्द्रशत्रु' शब्दके समासभेदसे दो अर्थ हो सकते हैं। १ षष्ठी-तत्पुरुष समासमें—'इन्द्रका मारनेवाला'। २ बहुव्रीहि समासमें—'इन्द्र ही अन्तमें जिसको मार गिराएगा-ऐसा (पुरुष')। इन दोनों अर्थोंमेंसे पहिला ही अर्थ ऋत्विजोंको (त्वष्टा को) अभीष्ट था। अतः उनको षष्ठीतत्पुरुष समासके स्वरसे 'इन्द्रशत्रु'-शब्दको उच्चारण करना चाहिए था। परन्तु गलतीसे वे बहुव्रीहिसमासके स्वरसे ही 'इन्द्रशत्रु' शब्दको बोल गए। जिससे उस शब्दका दूसरा ही अर्थ होगया। और उस यज्ञसे वृत्रासुर नामक बड़ा ही प्रबल असुर उत्पन्न तो हुआ, और उसने इन्द्रके छक्के भी छुड़ा दिए। परन्तु अन्तमें इन्द्र ही उसको मारनेवाला होगया। और उस वाग्-वज्रसे इन्द्रके द्वारा वह मार गिराया गया। अर्थात्-वह 'इन्द्रशत्रु' शब्द ही इन्द्रके वज्रमें प्रविष्ट हो गया, और वृत्रासुरके मरनेका कारण बन गया। इस प्रकार स्वरके दोषसे, तथा वर्णके दोषसे बड़ा अनर्थ हो जाता है। अतः बहुत सावधानीसे स्वर और वर्णोंका उच्चारण करना चाहिए।

और वह शुद्ध उच्चारण इस शिक्षाके पढ़नेसे ही हो सकता है। अतः यह शिक्षा अवश्य पढ़नी चाहिए।

स्वर भेद—इन्द्रशत्रु—शब्दमें तत्पुरुष समासमें—'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' ऐसा स्वर होता है। बहुव्रीहि समासमें—'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' ऐसा स्वर हो जाता है। ऋत्विजोंको बोलना तो चाहिए था—'इन्द्रशत्रुर्विवर्द्धस्व' ऐसे स्वरसे। पर वे बोल गए—'इन्द्रशत्रु०' ऐसा। अतः—इस शब्दसे तत्पुरुष समासका अभीष्ट अर्थ न होकर, बहुव्रीहि समासका अनिष्ट अर्थ हो गया और वृत्रासुर अन्त में इन्द्र के हाथ मारा गया।

तत्पुरुष समासमें उस समासके अन्त्य अक्षरको उदात्त होता है। बहुव्रीहि-समासमें—समासके पूर्वपदका जो स्वर हो, वही रह जाता है—यह नियम है। 'इन्द्र' पद आदि उदात्त है, अतः बहुव्रीहि समासमें वही स्वर रह जाता है। पर तत्पुरुषमें नया स्वर—(अन्त्यको उदात्त) होता है। इस प्रकार दोनों समासोंमें स्वरका भेद है। अतः जैसा स्वर उच्चारण किया गया, वैसा ही (उसी समासका) अर्थ हो गया। अतः स्वरके उच्चारणमें बहुत सावधानी रखनी चाहिए। नहीं तो अर्थ तो सिद्ध होता ही नहीं है, किन्तु उलटे उससे अनर्थ (हानि) ही हो जाता है॥ ५२॥

[प० भा०] अथ मन्त्रव्यत्यासलक्षणमाह—मन्त्र इति।

मन्त्रः। मननान्मन्त्रः। स्वरतः=उदात्तादिभेदतः, वर्णतः=त्रिषष्टिरित्यादिभेदतः। मिथ्याप्रयुक्तः। यः स्वरो यो वर्णस्तमज्ञात्वैव प्रयुक्तः। न तमर्थमाह। तस्यार्थं न वेद। स ईदृशो मन्त्रो वाग्रूपो वज्रसमो यजमानं हिनस्ति। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा स्वरतोऽपराधात् इन्द्र एव शत्रुहन्ताऽभूदिति॥ ५२–५५॥

अनक्षरमित्यादिश्लोकद्वयेन स्वरवर्णादिदुष्टमन्त्रोच्चारणस्याऽनिष्टफलजनकतामाह—

[1]अनक्षरमनायुष्यं, [2]विस्वरं व्याधिपीडितम्।
[3]अक्षताऽशस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके॥ ५३॥

अनक्षरमिति। अनक्षरम्=अक्षरविकृतं। वर्णदुष्टं। ब्रह्म—(वेदः)—

१ 'अवक्षरं' मुद्रितः पाठः। २ 'निःस्वरं' पा०। ३ 'अक्षताः' पा०।

आयुरेव-आयुष्यं, न आयुष्यम् = अनायुष्यं = यजमानस्य जीवितनाशं—करोति। किञ्च—विस्वरं = स्वरविकलं, विरुद्धस्वरसंयुतं च—ब्रह्म। व्याधिपीडितं = यजमानं रोगपीडितं करोति। किञ्च—अक्षताऽशस्त्ररूपेण = अकुण्ठितेन शस्त्राऽतिरिक्तेन रूपेण। अर्थात्—अप्रतिहतेन शस्त्राऽतिरिक्तेन वाङ्मयरूपेण, वज्रं = हिंसकत्वाद्वज्रमिव—वज्रं—भूत्वा तद् ब्रह्म। यजमानस्य मस्तके = शिरसि। पतति = निपतति। आघातं कुरुते। शस्त्रभिन्नमपि वाङ्मयं तद् ब्रह्म, हिंसकत्वाद्वज्रवत्कठोरं भूत्वा, यजमानं नाशयतीत्याशयः। अत एव 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ती' त्यत्र 'वा'गिति विशेषणं दत्तम्। वाङ्मयत्वाच्च शस्त्राऽतिरिक्तमपि हिंसकत्वाद्वज्रमेवेति तदाशयः।

अक्षतेन = कथमपि निरोद्धुमशक्येन। अशस्त्ररूपेण = शस्त्रभिन्नेन वाङ्मयेन रूपेण प्रतिच्छन्नमपि। साक्षाद्वज्रमिव घोरं भूत्वा यजमानशिरस्येव निपततीत्यर्थः।

अत्राऽक्षरार्थमविदुषः केचन वराकाः—'अक्षता' इति क्विबन्तं तृतीयान्तमित्यादिरीत्या वृथा क्लिश्यन्तः पराहताः। अनावश्यकत्वात्, अभेदतृतीययाऽपि समस्तेन शस्त्रेण सहाऽभेदान्वयस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। तावताऽप्यर्थाऽसङ्गतेश्च। अस्माकन्तु—'शस्त्रभिन्नमपि अप्रतिहतवीर्यं घोरं वाङ्मयं ब्रह्मैव-ऋत्विगाद्यपराधाद्वज्ररूपं सद्यजमानं विनाशयती'त्यर्थस्याऽनायासेन (कष्टकल्पनां विनैव) सुलभत्वादयमर्थो नितरां युक्त इति सुधीभिर्विभावनीयम्।

'अक्षताः शस्त्रे' ति पाठे—ब्राह्मणदत्ताशीर्वादाऽक्षता एव वज्रं भूत्वेत्यर्थः सरल एव।

भाषाटीका—वेदके मन्त्रोंके अक्षरोंका यथोचित स्थान प्रयत्न आदि से उच्चारण नहीं करनेसे वह मन्त्र आयु का नाश करता है। और उदात्त आदि स्वरोंके दुष्ट होनेसे वही मन्त्र यजमानको रोगपीडित कर देता है, और वह वाङ्मय (वेद)—शस्त्र नहीं होते हुए भी, शस्त्रसे भी भीषण एवं किसीसे भी नहीं रोका जा सकने वाला उग्र भयङ्कररूप धारण करके वज्र की तरह यजमान के शिर पर आकर गिरता है, और उसे नष्ट कर देता है। अतः वेदमन्त्रोंके स्पष्ट, शुद्ध और यथोचित स्वरों से युक्त वर्णों का ही उच्चारण विधिवत् करना चाहिए। नहीं तो वेद मन्त्र वज्र की तरह घातकरूप धारणकर लेते हैं।

अक्षताऽशस्त्ररूपेण—अक्षत = किसी भी उपायसे रोका न जा सकने वाला, अत्युग्र घोर-भयानक जो 'अशस्त्ररूप' = वाङ्मयरूप। मन्त्रों का शब्दमय रूप।

उस रूप से।—अर्थात्-जो वस्तुतः शस्त्र = घातक-न होने पर भी, उच्चारण करनेवाले के दोष से ही, वज्र = वज्रका सा संहारकारक रूप धारण कर लेता है, ऐसा वह वेदमन्त्र ही उच्चारणके दोषसे मारक बन जाता है। यह अक्षरार्थ स्पष्ट है। परन्तु यहाँ तो सभी टीकाकार गडबड़ा गए हैं, और मन-माना, किसी प्रकारसे भी ठीक नहीं बैठनेवाला अर्थ कर गए हैं। और सीधा-सादा बढ़िया अक्षरार्थ छोड़ कर, क्विबन्त मानना, अभेदमें तृतीया करना-आदि कष्ट कल्पना में जा फँसे हैं। उनके भ्रम का कारण—'अशस्त्ररूपेण' यही अंश है। पर वे भूल जाते हैं, कि—'अशस्त्ररूपेण' का अर्थ ही 'वाङ्मय स्वरूप शस्त्रभिन्न रूप' है। इसीलिए 'स वाग्वज्रो' यहाँ 'वाक्' यह विशेषण इसी तात्पर्यसे दिया गया है।५३।

यथाविधि, सस्वरं, स्पष्टाक्षरोच्चारणपूर्वकं च हस्तादिभिर्वेदाऽनध्यने दोषमाह—

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥ ५४॥

हस्तहीनमिति। यः=यो वै पुमान्। वेदाध्यायी। हस्तहीनन्तु=हस्तशून्यं। स्वरोचितहस्तनिक्षेपविकलन्तु। किञ्च—स्वरैर्वर्णैश्च—विवर्जितं—स्वरवर्णविवर्जितं = यथोचितोदात्तानुदात्तादिभिः स्वरैः, निर्दोषं सविध्युच्चारितैरुचितैरक्षरैर्विरहितं वेदं, वेदाङ्गानि च। अधीते=पठति। सः—ऋग्यजुःसामभिः=ऋग्यजुःसामाख्यैर्वेदैः। अग्निरूपैः। दग्धः = इह जन्मनि भस्मीभूतः सन्। वियोनिं=परलोके—दुर्गतिं। श्वसूकरखरादितिर्यग्योनिं। गच्छति = प्राप्नोति। अतः सुस्वरं, सहस्तं, स्पष्टाक्षरं च सावधानैर्वेदा अध्येयाः।

भाषाटीका—जो मनुष्य हाथ से स्वर लगाए बिना ही, तथा स्वरों और अक्षरों का शुद्ध उच्चारण किए बिना ही, वेदों का अध्ययन करता है, वह—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रूपी अग्नि से दग्ध हो, अन्त में नीच गति (पशु पक्षी, कुत्ता बिल्ली सूकर एवं भूत प्रेत पिशाच आदि की योनि) को प्राप्त होता है। अतः वेदों का पठन—पाठन—सस्वर तथा हस्तचालनपूर्वक एवं शुद्धवर्णोच्चारण पूर्वक ही करना चाहिए॥ ५४॥

यथाविधि, सस्वर—सहस्तचालन—शुद्धोच्चारणपूर्वकवेदाध्ययनस्य फलमाह—

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णाऽर्थसंयुतम्।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते॥ ५५॥

हस्तेनेति। यः=यो द्विजः। यः पुमान्। वेदम् = ऋग्यजुःसामादि वेदान्। हस्तेन=हस्तेन यथावत्स्वरप्रदर्शनपूर्वकम्। स्वराश्च वर्णाश्च अर्थाश्च तैः सम्यक् युतं-स्वरवर्णार्थसंयुतं = स्वरज्ञान-शुद्धवर्णोच्चारण-तदर्थाऽनुसन्धानपूर्वकं, यथाविधि-(शिक्षोक्तप्रक्रियया) अधीते=पठति। सः=स पुमान्। ऋग्यजुःसामभिः=ऋग्यजुःसामाख्यवेदैः। उपलक्षणमिदमथर्ववेदस्यापि। त्रय्यामेवाऽन्तर्भावात्तस्य च न पृथगुपन्यासः। पूतः = पवित्रितः। दग्धकल्मषः। धूतपापः सन्। ब्रह्मलोके = परलोके। महीयते=पूज्यते। सद्गतिं गच्छति।

भाषाटीका—जो मनुष्य हस्तचालन पूर्वक, तथा स्वर और वर्णों का शुद्ध उच्चारणपूर्वक, एवं अर्थानुसन्धान पूर्वक वेद का अध्ययन करता है, वह ऋग्, यजुः, सामवेदों से पवित्र, एवं हतपाप हो कर, अन्त में ब्रह्मलोक में पूजा को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

शिक्षायाः सम्प्रदायक्रमं निर्दिशति—

शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य [1]देवीं वाचमिति स्थितिः ॥५६॥

शङ्कर इति। शङ्करः=लोककल्याणकारकः शिवः। धीमते=बुद्धिमते। ऊहापोहकुशलाय मेधाविने। दाक्षीपुत्राय=दाक्षीसुताय पाणिनये। शङ्करस्येमां-शाङ्करीं=शङ्करोपज्ञां। शङ्करप्रवर्त्तितां। स्वीयां। देवीं वाचं = दिव्यां भारतीम्। 'दैवी'मिति पाठे-देवगणपूजितां सरस्वतीम्। संस्कृतां वाचमिति यावत्। वाचां विकारा वाङ्मयानि-तेभ्यः-वाङ्मयेभ्यः = वेदादिशास्त्रेभ्यः। समाहृत्य=सारमाकृष्य। प्रादात् = कृपया प्रददौ। उपदिदेश। इति = इयं। स्थितिः = वस्तुस्थितिः। शिक्षाव्याकरणादिशास्त्रप्राप्तिवृत्तान्तः। एवञ्चास्याः शिक्षायाः साक्षाच्छङ्कर एवोपदेष्टा खल्वाचार्य इत्यस्याः प्रामाण्यं सूचितम्।

भाषाटीका—सम्पूर्ण वेद और शास्त्रों का सार खींच कर भगवान् शङ्कर नें स्वयं कृपापूर्वक दाक्षीपुत्र (सुज्ञ) पाणिनि को अपनी इस दिव्य (देववाणी) वाणी का (इस दिव्य ज्ञान का) उपदेश प्रदान किया है ॥ ५६ ॥

---

१ 'दैवीं वाचं' पा०।

[प० भा०] इदानीं गुरुपूर्वक्रममाह—

शङ्कर इति। शङ्करः। शं सुखं करोतीति शङ्करः। सुखकरः। शाङ्करीं=सुखकरीं विद्यां। दाक्षीपुत्राय ऋषये। दाक्षीनाम्नी ऋषिकन्या तत्पुत्राय धीमते बुद्धिमते प्रादाद्दत्तवान् ॥ ५६ ॥

शङ्करप्रसादमेव विशदयन्पाणिनिं स्तौति तच्छिष्यः कश्चित्—

येनाऽक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं, तस्मै पाणिनये नमः ॥५७॥

येनेति। महेश्वरात्=शङ्करात्। अक्षरसमाम्नायम्='अइउण्' इत्यादि चतुर्दशसूत्राणि। अधिगम्य=प्राप्य। येन=पाणिनिना। कृत्स्नं=सम्पूर्णं। लौकिकवैदिकशब्दशास्त्रं। प्रोक्तं=प्रवर्त्तितं। तस्मै भगवते पाणिनये आचार्याय। नमः=नमो, नमोऽस्तु। तं प्रति वयं प्रणताः स्म इत्यर्थः।

भाषाटीका—भगवान् शङ्कर से अइउण् आदि १४ सूत्रों को प्राप्त करके जिन्होंने संपर्ण व्याकरण शास्त्र बनाया, उन भगवान् उन पाणिनिजी को हमारा प्रणाम है ॥ ५७ ॥

[प०भा०] सम्प्रति पाणिनिस्तुतिपरं श्लोकमाह—

येनेति। नन्वप्रकृतं स्तुतिपूर्वकं पाणिनेर्नमस्कारकरणं किमर्थम्?। उच्यते, 'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीष'दिति प्रत्याहारैः शिक्षा ग्रथिता, प्रत्याहाराश्च पाणिनिना शङ्करादधिगम्य कृत्स्नं समग्रं व्याकरणं प्रोक्तं, शिष्योपकाराय स्वप्रत्याहारा लोके प्रवर्त्तिताः, तदर्था स्तुतिः। समाम्नायमिति-प्रत्याहारानाहुः। ऋज्वन्यत् ॥ ५७ ॥

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाऽज्ञानजं भिन्नं, तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५८ ॥

येनेति। येन=पाणिनिना। पुंसां=जनानां। गिरः=वाचः। विमलैः=साधुभिः। शुद्धैः। संस्कृतैः। शब्दवारिभिः=शब्दरूपैः पवित्रैर्जलैः। धौताः=क्षालिताः। पवित्रिताः। किञ्च-येन-पुंसाम्-अज्ञानजम्=अबोधजं। तमश्च=अन्धकारश्च। भिन्नं=नाशितं। व्याकरणशास्त्रेण दूरीकृतम्। तस्मै पाणिनये नमः।

भाषाटीका—जिसने व्याकरण शास्त्र की रचना करके मनुष्यों की वाणी को विमल=शुद्ध, साधुशब्दरूपी पवित्रजल से धोकर साफ और पवित्र कर दिया है, और जिसने व्याकरण शास्त्र के प्रकाशमान ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश

से मनुष्यों के अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश कर दिया है-ऐसे भगवान् पाणिनिजी को हमारा प्रणाम है ॥ ५८ ॥

अज्ञानाऽन्धस्य लोकस्य ज्ञानाऽञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै पाणिनये नमः ॥ ५९ ॥

अज्ञानान्धस्येति । येन = पाणिनिना । अज्ञानान्धस्य = साधुशब्दाऽज्ञान-तिमिरान्धस्य । लोकस्य = जनस्य । पुंसामिति यावत् । ज्ञानमेव अञ्जनं तस्य या शलाका, तया–ज्ञानाऽञ्जनशलाकया = साधुशब्दज्ञानरूप–दिव्याऽञ्जन–पूर्णया शलाकया । चक्षुः=नेत्रं । दृष्टिः । ज्ञानचक्षुः । उन्मीलितम्=उद्घाटितं । तस्मै पाणिनये नमः । 'इयं पाणिनिस्तुतिस्तच्छिष्येण केन चिदुपनिबद्धा, पाणिनि-कनिष्ठभ्रात्रा पिङ्गलनागेन वोपनिबद्धे'ति बहवः ।

भाषाटीका—अज्ञानरूपी रोग से संसार के लोगों के अन्धे हुए नेत्रों को साधुशब्दों के ज्ञानरूपी अञ्जन (सुर्मे) की सलाई लगाकर जिन्होंने पुनः दिव्य दृष्टि शक्ति प्रदान की, उन भगवान् पाणिनिजी को हमारा प्रणाम है ।

अर्थात्–शुद्ध शब्दों का जिनको ज्ञान नहीं था, ऐसे अज्ञानी पुरुषों को व्याकरण शास्त्र के प्रसार से जिन्होंने ज्ञानचक्षु प्रदान की, ऐसे व्याकरणशास्त्र के प्रणेता भगवान् पाणिनिजी को नमस्कार है ॥ ५९ ॥

एतच्छिक्षापाठफलमाह—

[1]त्रिनयन[मभि]मुखनिःसृतामिमां,[2]
य इह पठेत् प्रयतश्च सदा द्विजः ।
स भवति धनधान्य[पशुपुत्र]कीर्तिमा-[2]
नतुलं च सुखं समश्नुते दिवि । [इति दिवीति] ॥६०॥

त्रिनयनेति । त्रिनयनस्य=त्रिलोचनस्य भगवतःशिवस्य,यन्मुखं=वक्त्रं, [तदभि=लक्ष्यीकृत्य। तस्मादितियावत्। 'अभिरभागे'इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया] निःसृतां=समुद्भूताम्। शङ्करेण साक्षात्स्वमुखेनोपदिष्टाम्। 'त्रिनयनमभिमुखनिःसृता-

१ 'मुखमभि' पा० । २ [ ] एतदन्तर्गतः पाठो वर्द्धितः कैश्चित् । वैतालीय-च्छन्दो भङ्गात् । वैतालीयेहि विषमे पादे १४ मात्रा, समे १६ मात्राः ।

मिति पाठे—त्रिनयनमभि = शिवमनु । शिवादिति यावत् । मुखनिःसृतां = तन्मुखोपदिष्टामित्यर्थः । इमां = शिक्षामिमाम् । इह = जगति । यो द्विजः=यो द्विजातिः-उपनीतो—ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यश्च । प्रयतः=ब्रह्मचर्य—भिक्षाशित्वा—ऽपरिग्रहादि—नियमोपेतः सन् । सदा = सर्वदा । सततं । पठेत्=अधीयीत । अभ्यसेत् ! 'द्विज'-पदोपादानेन ब्राह्मणादेरेवोपनीतस्य सदाचारशीलस्यैवात्राऽधिकारो, न शूद्रादेरिति सूचितम् । सः = एतच्छिक्षाध्यायी द्विजः । धन—धान्य—[पशु—पुत्र—]कीर्तिमान्= सर्वसम्पत्तिमान्—भवति । दिवि=स्वर्गे । परलोके । अतुलम्=अनुपमं । सुखं च = शर्म च । मोक्षाख्यं । समश्नुते = प्राप्नोति । लभते । भुङ्क्ते । इति—शब्दोऽत्र शिक्षासमाप्ति—सूचकः । 'दिवीति—दिवीति' द्विःपाठः पुण्यग्रन्थानां—समाप्तावन्तिमस्य मन्त्रश्लोकादेरन्त्यवाक्यस्याऽन्त्यपदस्यैव वा पाठः कर्त्तव्य' इति शिष्टाचारादेव । अतएव—सप्तशतीपाठ—समाप्तौ—'एवं देव्यावरं लब्ध्वा' 'सावर्णिर्भविता मनु'रित्यस्य श्लोकस्य, 'सावर्णिर्भविता मनु'रिति वाक्यस्य वा, द्विरावृत्तिं शिष्टाः कुर्वन्ति । वैतालीयमिदं वृत्तम् तत्र—१—३ पादयोश्चतुर्दश, २—४ पादयोः षोडशमात्रा भवन्ति ॥ ६० ॥

भाषाटीका—त्रिलोचन भगवान् शिव के मुख से साक्षात् उपदिष्ट हुई इस पाणिनीय शिक्षा को जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य—ब्रह्मचर्य आदि नियम पूर्वक सदा पढ़ता है, वह इस लोक मे—धन, धान्य, पशु, पुत्र, पौत्र, कीर्त्ति आदि सकल सम्पत्ति को पाकर, अन्त में (परलोक में) परमपद (मोक्ष सुख) को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

[प०भा०] भगवतः, शिक्षायाश्च साक्षात् स्तुतिपरं श्लोकमाह—

त्रिनयनेति । वैतालीयं छन्दोऽस्य । अन्येषाम्प्रायोऽनुष्टुप् छन्दोऽस्ति । त्रिनयनः शिवस्तस्य मुखान्निःसृता । यथा गुहायाः सिंहो निष्क्रामति तथा निःसृता । एतावता त्रिनयनेनापि न कृतेत्यर्थः । तां च द्विजः पठेदधीयीत । स धनादिभिर्युज्यते । सुखमतुलं परमानन्दलक्षणमुक्तिमुक्तप्रकारेणाश्नुते=प्राप्नोति । अन्यत्रामुष्मिन् धनधान्यपशुकोर्तिभाग् भवत्यन्ते मुक्तिभागन्यदवान्तरफलानि स्वर्गादीनि परिमितकालत्वात् तोलयितुं शक्यन्ते, मोक्षाख्यं तु अपरिमितकालावच्छिन्नं सुखरूपमित्यर्थः ॥ ६० ॥

॥ इति अज्ञातकर्त्तृकं पाणिनीयशिक्षापञ्जिकाख्यं भाष्यं सम्पूर्णम् ।

स्वकृतायाः शिक्षाया एकादशखण्डात्मिकायाः श्लोकपञ्चकात्मकस्यैकैकस्य खण्डस्याद्यं श्लोकं ग्रन्थरक्षायै सङ्गृह्णाति—

अथ शिक्षामात्मोदात्तश्च हकारं स्वराणां यथा
गीत्यचो स्पृष्टोदात्तं चाषस्तु शङ्कर एकादश ॥ ६१ ॥

इति पाणिनीयशिक्षा समाप्ता ॥

अथेति। [१]'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामी'त्याद्यस्य खण्डस्य प्रथमः श्लोकः। 'आत्मा बुद्ध्या'(६)इति द्वितीयखण्डस्य प्रथमः श्लोकः। 'उदात्तश्चाऽनुदात्तश्च', (११) इति तृतीयखण्डस्याद्यः श्लोकः। 'हकारं पञ्चमैर्युक्तम्'(१६)इति चतुर्थखण्डस्याद्यःश्लोकः। 'स्वराणामूष्मणाञ्चैव'(२१)इति पञ्चमखण्डस्यादिमः श्लोकः। 'यथा सौराष्ट्रिका नारी'ति(२६)षष्ठस्यादिमः। 'गीती शीघ्री'(३१)इति सप्तमस्यादिमः श्लोकः। 'अचोऽस्पृष्टा'(३६)इत्यष्टमखण्डस्यादिमः श्लोकः. 'उदात्तमाख्याति' इति नवमस्यादिः। 'चाषस्तु' इति दशमखण्डस्य।

'शङ्करः शाङ्करीम्' (५६) इत्येकादशखण्डस्यादिमः श्लोक एक एव। इत्येवमेकादशखण्डा (अपूर्णा) अत्र सन्ति। अत्र श्लोकानां व्यत्ययात्कचित्खण्डाद्यश्लोकेषु भेदोऽपि बोध्यः॥

भाषाटीका—इस शिक्षा में ५-५ श्लोकों के १० खण्ड हैं। जिनके आदि के श्लोक 'अथ शिक्षां' 'आत्माबुद्ध्या' इत्यादि हैं। और ११ वाँ खण्ड केवल १ही श्लोक का है। इस प्रकार ६१ श्लोक, एवं ११ खण्ड इस शिक्षा में हैं॥ ६१॥

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिभिर्विरचिता पाणिनीयशिक्षाऽभिनवराजलक्ष्म्याख्या व्याख्या [समाप्ता]। भाद्रपद शुक्ला ४ मं २००५॥

॥ हरिः ॐ ॥ शुभम् ॥

॥ अथ संक्षिप्तः स्वरसञ्चारविधिः ॥

तत्र—आदौ स्वरसञ्चारं विना वेदाध्ययने दोषमाह याज्ञवल्क्यः—

'हस्तहीनन्तु योऽधीते स्वर-वर्ण-विवर्जितम्।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥' इति।

हस्तेन सस्वरमध्ययने फलमप्याह—

'स्वर-वर्णान् प्रयुञ्जानो हस्तेनाऽधीतमाचरन्।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥' इति।

१ अनुदात्तस्वरः—

अथ 'गणानान्त्वा' इत्यादौ—ईदृशी पादस्थिता रेखा अनुदात्त-बोधिका। यथा-'ग' इत्यनुदात्तः। अनुदात्तो नीचैर्गतेन हस्तेन सूच्यते।

२ उदात्तः—

पादरेखायुक्ताद्वर्णात्परो रेखाशून्यो वर्णः (अच्) उदात्तो भवति। यथा 'गणा' इत्यत्र गकारात्परो 'ण' कार उदात्तः। उदात्तोऽच् उपरि-गतेन हस्तेन सूच्यते।

३ स्वरितः [तद्भेदाः, कम्प—जात्यादयश्च]—

मस्तकोपरिस्थितरेखाऽन्वितोऽच् स्वरितः। यथा 'गणानान्त्वा' इत्यत्र 'ना' इति स्वरितः। स्वरितो मध्ये तिष्ठति।

अथ स्वरितस्वरभेदा जात्यादयो यजुर्वेदे। [कम्पश्च ऋग्वेदे]—

तत्र अनुदात्तात्परः स्वरितो यदि भवति, स्वरितात्परश्चोदात्तो वर्णो न भवति, तदा पिण्डदानवद्दक्षिणो हस्तो न्युब्जो भवति यथा—धान्यं, 'ख्वैष्णव्यौ'। अत्र अनुदात्तात्परो 'व्यौ' इति स्वरितः (जात्यः) पितृ-पिण्डदानमुद्रया प्रदर्श्यते, [- उदात्तस्य ततः परतोऽभावात्]। उदात्ते परे तु—'भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव'। सुप्त्वा कामधुक्षः। अत्र स्वरित्ति स्वरितात् 'द्यौ' रित्युदात्तः परोऽस्तीति 'स्व' रित्यत्र आदौ दक्षिणतो हस्तं न्युब्जीकृत्य पश्चादधोमुखं कृत्वा स्वरप्रदर्शनं भवति। एवमेव—ख्वेदोऽसि। 'प्रसवेश्विनो' रिति अभिनिहतः स्वरितः। 'अभ्यर्षत'

इति, विश्वन्न्यत्रिणम्' इति क्षैप्रो नाम स्वरितविशेषः। 'अभीन्धता' इति, स्रुची वेंति' इति प्रश्लिष्टाख्यः स्वरितोऽपि च द्विधा बोध्यः। इमे एव जात्यादयः स्वरा यजुर्वेदप्रसिद्धा, उदात्ते स्वरिते च परे 'कम्प-स्वरित' इति बह्वृचानां प्रसिद्धाः। हस्तकम्पनमुभयत्र समानम्। केवलं ध्वे, हस्तमुद्रायां च किञ्चिदेव भेद इति ध्येयम्।

४ प्रचयः—

स्वरितात्परोऽनुदात्तः प्रचयो भवति। स एव 'एकश्रुतिः' 'तानः' इत्यप्युच्यते। यथा 'गणानान्त्वा' इत्यत्र 'ना' इति स्वरितात्परोऽनुदात्तः 'त्वा' इति प्रचय उच्यते। तेन स्वरितात्परो रेखारहितो वर्णः 'प्रचय' इति ज्ञेयम्।

अथ ꣳ ः ꣳ विसर्गेऽङ्गुलिनिक्षेपप्रकारः—

उदात्तात्परे विसर्गे सति—ऊर्ध्वं तर्जनीक्षेपो विधेयः। यथा—भूमिमथो पुरः। अनुदात्तात्प्रचयाच्च परे विसर्गे तु कनिष्ठिकाक्षेपः। यथा—उदैःपुरुष ꣳ इति—'सहस्रशीर्षा पुरुषꣳ' इति च। आद्येऽनुदात्तात् परो विसर्गोऽन्तेच प्रचयात्पर इति विवेकः। स्वरितात्परे विसर्गे तूभयाऽङ्गुलिक्षेपः। यथा—आवृत—ः—सहस्रमाऽऋषयꣳ।

अथाऽनुस्वारः (ꣳ, ꣴ)

ह्रस्वात्परस्यानुस्वारस्य स्थाने दीर्घो 'ꣳ' (गूँ) भवति। यथा—'गणपति ꣳ हवामहे'। दीर्घात्परस्य, संयोगात्पूर्वस्य चानुस्वारस्य ह्रस्वो ꣴ 'गुँ' कारोभवति। यथा—सामगजू ꣴ षि। 'स ꣴ स्थाम्'इति। ऋवर्णात्पूर्वस्यानुस्वारस्य तु दीर्घात्परस्यापि दीर्घ एव ꣳ कारः। यथा देवाना ꣳ हृदयेन' इति। तदुक्त याज्ञवल्क्येन—

'वर्णे तु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो ꣳ द्विमात्रिकः।
द्विमात्रिके मात्रिकः ꣴ स्यात्संयोगाद्यश्च यो भवेत्॥' इति।

अथ कम्पस्वरितः (१, ३ । सरङ्गः—३)

स्वरितस्य हि आदितोऽर्द्धा मात्रा उदात्ता, अवशिष्टा चाऽर्द्धा मात्राऽनुदात्ता भवति । 'तस्यादित उदात्तमर्द्धं ह्रस्वम्' इत्युक्तेः । अनुदात्तभागस्य च उदात्ते, स्वरिते वा परे सत्येव श्रवणं भवति, उदात्तस्वरितपरत्वाऽभावे तूदात्तस्यैव सर्वस्य श्रवणं भवति, नाऽनुदात्तस्य । अयमेव उदात्तस्वरितपरकः स्वरितस्वरः (यत्रानुदात्तस्य स्पष्टं श्रवणं स) 'कम्प' इत्युच्यते बह्वृचानां शाखायामृग्वेदे इति—शौनकप्रातिशाख्यव्याख्याने उव्वटाचार्याः प्राहुः । ह्रस्वस्य कम्पस्योदाहरणं च—क १ वोऽश्वाः । दीर्घस्य—शतचक्रं यो ३ ह्यः । अत्रोदात्तस्य, स्वरितस्य च क्रमेण परत्वादनुदात्तस्य भागस्य श्रवणं स्पष्टं भवति । एवमेव—'तिब्यो ३ यथा' । 'दिवो ३ स्मे' । 'रथी ३ व' इत्याद्युदाहरणानि कम्पस्वरितस्य बोध्यानि । तदुक्तम् ऋग्वेदप्रातिशाख्ये—(३ पटले, ३४ श्लोके)

'जात्योऽभिनिहतश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते, यत्रोच्च-स्वरितोदयाः ॥' इति ।

तत्र—स्वाराः = स्वरिता । यत्र—उच्चः = उदात्तः, स्वरितश्च, उदये= उत्तरे तिष्ठति, एवं विधाः । 'कम्प' इत्युच्यन्ते इति च तदर्थः ।

इमानि च रङ्गरहितकम्पोदाहरणानि । सरङ्गस्य कम्पस्योदाहरणन्तु कथं चित्—'न त्वा भीरिव विन्दती ३ँ' (१० मं० १४६ सू०) इति बोध्यम् ।

॥ इति संक्षिप्तः स्वरसञ्चारविधिः ॥

पुस्तक मिलने का पता—

भार्गवपुस्तकालय, गायघाट,

[ब्राञ्च—कचौड़ीगली बनारस ।]

मुद्रक—पं० बैकुण्ठनाथ भार्गव, आनन्दसागर प्रेस, गायघाट बनारस ।

इति, विश्वन्यत्रिणम्' इति क्षैप्रो नाम स्वरितविशेषः। 'अभीन्धता' इति, स्रुची वेति' इति प्रश्लिष्टाख्यः स्वरितोऽपि च द्विधा बोध्यः। इमे एव जात्यादयः स्वरा यजुर्वेदप्रसिद्धा, उदात्ते स्वरिते च परे 'कम्प-स्वरित' इति बह्वृचानां प्रसिद्धाः। हस्तकम्पनमुभयत्र समानम्। केवलं लये, हस्तमुद्रायां च किञ्चिदेव भेद इति ध्येयम्।

४ प्रचयः—

स्वरितात्परोऽनुदात्तः प्रचयो भवति। स एव 'एकश्रुतिः' 'तानः' इत्यप्युच्यते। यथा 'गणानान्त्वा' इत्यत्र 'ना' इति स्वरितात्परोऽनुदात्तः 'त्वा' इति प्रचय उच्यते। तेन स्वरितात्परो रेखारहितो वर्णः 'प्रचय' इति ज्ञेयम्।

अथ ꣳ ः ꣳ विसर्गेऽङ्गुलिनिक्षेपप्रकारः—

उदात्तात्परे विसर्गे सति—ऊर्ध्वं तर्जनीक्षेपो विधेयः। यथा—भूमिमथो पुरः। अनुदात्तात्प्रचयाच्च परे विसर्गे तु कनिष्ठिकाक्षेपः। यथा—उदैःपुरुषꣳ इति—'सहस्रशीर्षा पुरुषꣳ' इति च। आद्येऽनुदात्तात् परो विसर्गोऽन्तेच प्रचयात्पर इति विवेकः। स्वरितात्परे विसर्गे तूभयाऽङ्गुलिक्षेपः। यथा—आवृत—सहस्रमाऽऋषयꣳ।

अथाऽनुस्वारः (ꣳ, ꣴ)

ह्रस्वात्परस्यानुस्वारस्य स्थाने दीर्घो 'ꣳ (गूँ) भवति। यथा—'गणपति ꣳ हवामहे'। दीर्घात्परस्य, संयोगात्पूर्वस्य चानुस्वारस्य ह्रस्वो ꣴ 'गुँ' कारोभवति। यथा—सामग्जू ꣴ षि। 'स ꣴ स्थाम्'इति। ऋवर्णात्पूर्वस्यानुस्वारस्य तु दीर्घात्परस्यापि दीर्घ एव ꣳ कारः। यथा देवाना ꣳ हृदयेन' इति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

'वर्णे तु मात्रिके पूर्वे ह्यनुस्वारो ꣳ द्विमात्रिकः।
द्विमात्रिके मात्रिकः ꣴ स्यात्संयोगाद्यश्च यो भवेत्॥' इति।

अथ कम्पस्वरितः (१, ३ । सरङ्गः–३)

स्वरितस्य हि आदितोऽर्द्धा मात्रा उदात्ता, अवशिष्टा चाऽर्द्धा मात्राऽनुदात्ता भवति । 'तस्यादित उदात्तमर्द्धं ह्रस्वम्' इत्युक्तेः । अनुदात्तभागस्य च उदात्ते, स्वरिते वा परे सत्येव श्रवणं भवति, उदात्तस्वरितपरत्वाऽभावे तूदात्तस्यैव सर्वस्य श्रवणं भवति, नाऽनुदात्तस्य । अयमेव उदात्तस्वरितपरकः स्वरितस्वरः (यत्रानुदात्तस्य स्पष्टं श्रवणं स) 'कम्प' इत्युच्यते बह्वृचानां शाखायामृग्वेदे इति—शौनकप्रातिशाख्यव्याख्याने उव्वटाचार्याः प्राहुः । ह्रस्वस्य कम्पस्योदाहरणं च—क १ वोम्याः । दीर्घस्य—शतचक्रं यो ३ ह्यः । अत्रोदात्तस्य, स्वरितस्य च क्रमेण ह्रस्वाद्नुदात्तस्य भागस्य श्रवणं स्पष्टं भवति । एवमेव—'तिष्यो ३ यथा' । 'दिवो ३ स्मे' । 'रथी ३ व' इत्याद्युदाहरणानि कम्पस्वरितस्य बोध्यानि । तदुक्तम् ऋग्वेदप्रातिशाख्ये-(३ पटले, ३४ श्लोके)

'जात्योऽभिनिहतश्चैव क्षैप्रः प्रश्लिष्ट एव च ।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते, यत्रोच्च-स्वरितोदयाः ॥' इति ।

तत्र—स्वाराः = स्वरिता । यत्र—उच्चः = उदात्तः, स्वरितश्च, उदये= उत्तरे तिष्ठति, एवं विधाः । 'कम्प' इत्युच्यन्ते इति च तदर्थः ।

इमानि च रङ्गरहितकम्पोदाहरणानि । सरङ्गस्य कम्पस्योदाहरणन्तु कथं चित्—'न त्वा भीरिव विन्दती ३' (१० मं० १४६ सू०) इति बोध्यम् ।

॥ इति संक्षिप्तः स्वरसञ्चारविधिः ॥

मुद्रक—पं० वैकुण्ठनाथ भार्गव, आनन्दसागर प्रेस, गायघाट बनारस ।



पण्डितराज–

श्रीरा

"श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज" ग्रन्थमालायाः (७) प्रसूनं –

छन्दोमन्दाकिनी

[सन् १९५१ की नई नियमावली के अनुसार प्रथमपरीक्षोपयोगी १६ छन्दों का सबसे उत्तम सरल संग्रह]।

समीक्षकः–

श्रीगुरुप्रसादशास्त्री,

व्याकरणाचार्यः, न्यायाचार्यः, दर्शनाचार्यः,

[प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान संस्कृत कालेज, मीरघाट, काशी]।

प्रकाशक–

भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस १.

(ब्राञ्च–कचौड़ीगली, बनारस)।

तृतीयावृत्तिः] १९५० [मूल्यं ।)

छपगया !!

...था में पाठ्य

पण्डितराज–श्रीस्नेहिरामशास्त्रि–(चिड़ावा–जयपुर)–स्मारिकायाः—

श्रीराजस्थान–संस्कृत–कालेज–ग्रन्थमालायाः सप्तमङ्कुसुमं

छन्दोमन्दाकिनी

[सन् १९५१ की नई नियमावली के अनुसार प्रथमपरीक्षोपयोगी
१६ सोलह छन्दों का सबसे उत्तम सरल संग्रह]।

संस्कर्त्ता—

आचार्य–श्रीसीतारामशास्त्री,

'व्याकरणाचार्य', 'राजशास्त्री', 'साहित्यरत्न'।

प्रिन्सिपल—सेठश्रीराधाकृष्णपोद्दार-संस्कृत-विद्यालय, रामगढ़, जयपुर।

समीक्षकः—

श्रीगुरुप्रसादशास्त्री,

[प्रिन्सिपल–श्रीराजस्थान–संस्कृत–कालेज, काशी]।

प्रकाशक–

भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस १.

(ब्राञ्च–कचौड़ीगली, बनारस)।

[तृतीयावृत्तिः] १९५० [मूल्यं ।)

प्रकाशक—
पं० कैलाशनाथ भार्गव 'अमर'
अध्यक्ष—भार्गवपुस्तकालय, गायघाट,
बनारस १.
ब्रांच—कचौड़ीगली, काशी।

मुद्रक—
पं० वैकुण्ठनाथ भार्गव,
आनन्दसागर प्रेस, गायघाट,
बनारस १.



श्रीमहागणपतये नमः।

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता—

प्रथमपरीक्षोपयोगि-षोडशच्छन्दः-सङ्ग्रहरूपा

छन्दो-मन्दाकिनी



(अथ मङ्गलाचरणम्)

वाचस्पत्यवताराणां 'स्नेहिरामजि'–शास्त्रिणाम्।
मरुमण्डल-मार्त्तण्ड-पादपङ्कजयोर्भजे ॥ १ ॥

(अथ छन्दःपरिचयः)

छन्दो द्विविधमुद्दिष्टं मात्रा-वर्ण-विभेदतः।
आर्यादि प्रथमं तत्र, द्वितीयं स्रग्धरादिकम् ॥ १ ॥

[टीका] द्विविधं हि छन्दो भवति। (१) मात्राच्छन्दः, (२) वर्णच्छन्दश्चेति। यत्र (च्छन्दसि) मात्राणां–ह्रस्वदीर्घाक्षरोच्चारणसमकालरूपाणां मात्राणामेव गणना भवति तन्मात्राच्छन्द इत्युच्यते। यथा—आर्यादिच्छन्दःसु मात्रागणनैव भवतीति तन्मात्राच्छन्द इत्युच्यते। यत्र च वर्णगणनया छन्दोनिर्धारणं तद्वर्णच्छन्द इत्युच्यते। यथा-स्रग्धरादिकम्। किञ्च—मात्राच्छन्दो 'जातिः' इत्यप्युच्यते। यथा—'आर्या-जातिः'

'गीति-जातिः'—इति। वर्णच्छन्दो 'वृत्तम्' इत्युच्यते। यथा 'स्रग्धरा-वृत्तं', 'हरिणी-वृत्तम्'—इत्यादि।

[भाषाटीका] छन्द दो प्रकार के होते हैं—मात्रा-छन्द, और वर्ण-छन्द।

(१) मात्रा-छन्द—जो छन्द मात्राओं की सङ्ख्या के आधार पर बनते हैं, वे मात्राछन्द कहलाते हैं। जैसे 'आर्या' 'उपजाति' 'उपगीति' 'गीति' आदि। इन छन्दों में प्रायः लघु गुरु स्थापन के नियम की अपेक्षा नहीं रहती है, किन्तु केवल मात्राओं की गिनती पर ही ये छन्द बनते हैं।

(२) वर्णच्छन्द—इनमें लघु गुरु वर्णों के स्थापन में क्रमविशेष की अपेक्षा होती है। जैसे—'स्रग्धरा' 'वसन्ततिलका' आदि में।

इन दोनों प्रकार के छन्दों में प्रत्येक में चार २ चरण (पाद) होते हैं।

(वर्णछन्दों के भेद)

युक् समं, विषमं चाऽयुक् स्थानं सद्भिर्निगद्यते।
समम[१]र्द्धसमं[२] वृत्तं, विषमं[३] च तथा परम् ॥ २ ॥
अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिताः।
तच्छन्दःशास्त्रतत्त्वज्ञाः 'सम-वृत्तं' प्रचक्षते ॥ ३ ॥
प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत्।
द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्तं तदर्द्धसममुच्यते ॥ ४ ॥
यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं परस्परम्।
तदाहुर्विषमं[३] वृत्तं छन्दःशास्त्रविशारदाः ॥ ५ ॥

[भाषाटीका] वर्णच्छन्द (वृत्त) तीन तरह के होते हैं—

(१) समवृत्त, (२) अर्धसमवृत्त, और (३) विषमवृत्त।

(१) समवृत्त—इसमें चारों चरणों में एक ही नियम से गुरु—लघु (गण) रखे जाते हैं। अर्थात्—जो पहिले पाद का लक्षण होगा, वही बाकी के तीनों पादों का भी होगा। जैसे 'वसन्त—तिलका' 'शिखरिणी' आदि में चारों चरणों में एक ही लक्षण है।

(२) अर्धसमवृत्त—इसमें विषम (पहिला—तीसरा) चरण एक तरह के और सम (दूसरा—चौथा) चरण एक तरह के होते हैं। जैसे—'वियोगिनी' आदि में। इन वृत्तों के लक्षण 'वृत्तरत्नाकर' में दिए गए हैं।

(३) विषमवृत्त—इनमें चारों चरणों के लिए अलग २ नियम से लघु-गुरु (गण) रखे जाते हैं—जैसे-'आपीड', 'उद्गता' आदि छन्दों में। इन वृत्तों के लक्षण भी 'वृत्तरत्नाकर' से जाने जा सकते हैं।

(लघु-गुरु-व्यवस्था—)

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो, द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो, व्यञ्जनश्चार्द्धमात्रिकम् ॥ ६ ॥

[टीका] एकमात्रिकोऽच् ह्रस्वसञ्ज्ञको, लघुसञ्ज्ञकश्च भवति। एवं—द्विमात्रिकोऽच् दीर्घसंज्ञको, गुरुसञ्ज्ञकश्च भवति। त्रिमात्रिकश्च अच्—प्लुतसञ्ज्ञको भवति। एवञ्च ह्रस्वस्य एका मात्रा, दीर्घस्य द्वे मात्रे, प्लुतस्य च तिस्रो मात्रा भवन्ति। व्यञ्जनञ्चाऽर्द्धमात्रिकं भवति।

[भाषाटीका] एकमात्रिक स्वर—अ-इ-उ-ऋ-लृ-ये ४ अच् 'ह्रस्व' और 'लघु' कहलाते हैं। और इनकी एक मात्रा गणना[१] होती हैं।

द्विमात्रिक स्वर—आ-ई-ऊ-ॠ-ए-ऐ-ओ-औ, ये ८ अच् 'दीर्घ' और 'गुरु' कहलाते हैं।

(लघु गुरु के विशेष नियम—)

[२]संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरु, पादान्तस्थं विकल्पेन ॥ ७ ॥

---

१ गिनती में लघु की एक मात्रा और गुरु की दो मात्रा गिनी जाती है।

२ पाद के आदि का संयोग 'क्रम' कहलाता है, उसके परे रहते लघु अक्षर भी कदाचित् गुरु हो जाता है—जैसे—'अल्पव्ययेन सुन्दरि—ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति'—यहां सुन्द'रि' का इकार गुरु माना जाता है। ऐसे ही 'प्र'—'ह्र' आदि संयुक्त अक्षर परे रहते पूर्व ह्रस्व अक्षर भी कहीं २ (विकल्प से) गुरु होता है। ['प्रह्रे वा' इस छन्दःसूत्र से]।

[टीका] संयोगे परे पूर्वोऽच् ह्रस्वोऽपि गुरुसंज्ञको भवति। तदेवं तस्य मात्राद्वयं भवति। एवं—सानुस्वारं, विसर्गसहितं च ह्रस्वमक्षरमपि गुरुसञ्ज्ञकं भवति। एवञ्च तस्यापि मात्राद्वयं ज्ञेयम्। किञ्च-श्लोकपादान्तस्थं च ह्रस्वमक्षरं यथेष्टं लघु वा, गुरु वा भवति।

[भाषाटीका] ह्रस्व अक्षर भी कहीं-कहीं गुरु (द्विमात्रिक) माना जाता है। जैसे—

(१) अनुस्वार या विसर्ग से साथ (पूर्व) का अच् अक्षर 'ह्रस्व' भी हो, तो भी वह 'गुरु' ही होता है, और उसकी दो मात्रा होती है। जैसे–'अं, अः, 'रामः' 'शिवः' आदि में अकार गुरु होता है, और उसकी दो मात्रा होती हैं।

(२) संयोग के आदि का 'ह्रस्व' अक्षर भी 'गुरु' होता है। जैसे—'शम्भुः'—यहाँ मकार भकार के संयोग के आदि का—अकार गुरु है। अतः गिनती में इसकी दो मात्रा समझनी चाहिये।

(पादान्तस्थव्यवस्था—)

(३) श्लोक के पाद के अन्त का अक्षर लघु भी हो तो भी, उसे आवश्यकतानुसार—गुरु, या लघु माना जा सकता[1] है। जैसे—

ऽ
'बाले ! वसन्ततिलकां किल तां वदन्ति'।

यहाँ अन्तिम अक्षर 'वदन्ति' का इकार यद्यपि ह्रस्व होने से लघु है, परन्तु वसन्ततिलका में अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिये, अतः यह गुरु ही यहाँ माना जाता है।

(लघु-गुरुलेखन-प्रणाली—)

ग्—वक्रो ज्ञेयोऽन्यो मात्रिको ल्—ऋजुः।

(—वृत्तरत्नाकर)

[भाषाटीका] लघु का चिह्न—(।)—इस तरह से, और गुरु का चिह्न-(ऽ) इस तरह से लिखा जाता है। कोई २ विद्वान् लघु का चिह्न [⏑] इस तरह, और गुरु का चिह्न—[˘] ऐसा भी लिखते हैं। (ल्-लघु। ग्-गुरु)।

१. छन्द शास्त्र में 'गुरु' और 'ग' या 'ग्', एवं 'लघु' और 'ल' या 'ल्' ये सब समानार्थक जानना।

(गणपरिगणन—)

म्यरस्तजभ्नगैर्लान्तैरेभिर्दशभिरक्षरैः ।
समस्तं वाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना ॥ ८ ॥

[टीका] (१) मगणः, (२) यगणः, (३) रगणः (४) सगणः, (५) तगणः, (६) जगणः, (७) भगणः, (८) नगणः—इत्यष्टौ गणाश्छन्दःशास्त्रे भवन्ति । लघु-'लः', इति, गुरुश्च 'ग' इत्यप्युच्यते ।

[भाषाटीका] छन्दः शास्त्र में—१ मगण, २ यगण, ३ रगण, ४ सगण, ५ तगण, ६ जगण, ७ भगण, ८ नगण-ये आठ गण हैं। और ल-लघु, ग-गुरु कहाता है । इन १० अक्षरों से ही छन्दशास्त्र में सब व्यवहार चलता है ॥ ८ ॥

(वर्णछन्दों में गणों का स्वरूप—)

मस्त्रिगुरुः, त्रिलघुश्च नकारो,
भाऽऽदिगुरुः, पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो, र-लमध्यः,
सोऽन्तगुरुः, कथितोऽन्तलघुस्तः ॥ ९ ॥

[टीका] (१) त्रिगुरुर्मगणः—SSS, (२) त्रिलघुः-नगणः ।।।, (३) आदिगुरुर्भगणः-S।।, (४) आदिलघुर्यगणः—।SS, (५) गुरुमध्यो जगणः—।S।, (६) लघुमध्यो रगणः-S।S, (७) अन्तगुरुः सगणः—।।S, (८) अन्तलघुस्तगणः-SS।,

(आर्या आदि मात्राछन्दों में गणों का स्वरूप—)

ज्ञेयाः सर्वान्तमध्यादिगुरवोऽत्र चतुष्कलाः ।
गणाश्चतुर्लघूपेताः पञ्चाऽऽर्यादिषु संस्थिताः ॥ १० ॥

[टीका] आर्यादिमात्राच्छन्दःसु चतुर्लघूपेताः चतुर्मात्राः पञ्च गणा भवन्ति । तथाहि-(१) सर्वगुरुः, (SS) (२) अन्तगुरुः (।।S),(३) मध्य-

गुरुः (। ऽ ।)(४), आदिगुरुः (ऽ।।), (५) सर्वलघुश्च-(।।।।)।

अत्र 'लघोरेका मात्रा भवति, गुरोर्द्वे मात्रे भवतः' इति रीत्या पञ्चस्वपि गणेषु प्रत्येकं चतुर्मात्रिकत्वं स्पष्टमेव विभाव्यताम्।

[भा० टी०] आर्या आदि मात्राछन्दों में तो ४-४ मात्राओं से १-१ गण बनता हैं। (दीर्घ की दो मात्रा गिनी जाती है, और ह्रस्व की १ मात्रा)।

(१) जैसे—मात्रा छन्दों में 'रामः'—यह सर्वगुरु एक गण गिना जाता है, क्योंकि इसमें 'आ' दीर्घ है, अतः उसकी दो मात्रा, और 'अः'—इसकी भी (विसर्ग युक्त होने से) दो मात्रा, इस तरह ४ मात्रा हो जाती हैं। अतः आर्या आदि मात्रा छन्दों में यह ४ मात्रा का एक गण हो गया।

(२) इसी तरह 'विलास' इस शब्द में-'आ' दीर्घ है, इसलिए उसकी दो मात्रा, 'इ' की एक मात्रा, और अ (ह्रस्व) की १ मात्रा, सब मिलके ४ मात्रा हो गई, अतः यह मध्यमगुरु १ गण हुआ। इसी तरह और सब गण भी जानना।

(वर्णच्छन्दों में गणस्थापना की अतिस्पष्ट रीति—)

आदिमध्याऽवसानेषु भ-ज-सा यान्ति गौरवम्।
य-र-ता लाघवं यान्ति, म-नौ तु गुरु-लाघवम्॥ ११॥

[भा०टी०] वर्ण छन्दों में तीन-तीन वर्णों के आठ गण होते हैं। जैसे—

१ भगण—आदिगुरु—ऽ।।
२ जगण—मध्यगुरु—।ऽ।
३ सगण—अन्तगुरु—।। ऽ
४-यगण—आदिलघु—। ऽ ऽ
५ रगण—मध्यलघु—ऽ । ऽ
६ तगण—अन्तलघु—ऽ ऽ ।
७ मगण—सर्वगुरु—ऽ ऽ ऽ
८ नगण—सर्वलघु—। । ।

गुरु लघु स्वरूप, गणस्वरूप गणों के देवता आदि का कोष्ठक

लघुस्वरूप	गणनाम	मगण	यगण	रगण	सगण	तगण	जगण	भगण	नगण
। सीधीरेखा	गणस्वरूप	ऽऽऽ	।ऽऽ	ऽ।ऽ	।।ऽ	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।।	।।।
गुरु स्वरूप	गणदेवता	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	आका-श	सूर्य	चन्द्र-मा	स्वर्ग
ऽ वक्र-रेखा	गणों का फल	श्रीवृद्धि	वृद्धि	विनाश	भ्रमण	धन-नाश	रोग	सुयश	आयु
‿ ऐसा भी कहीं गुरु का स्वरूप	मित्र शत्रु आदिसंज्ञा	मित्र	भृत्य	शत्रु	शत्रु	उदा-सीन	उदा-सीन	भृत्य	मित्र

तथा च संग्रहश्लोकः—

मो भूमिस्त्रिगुरुः श्रियं दिशति, यो वृद्धिं जलं चादि-लो,
रोऽग्निर्मध्यलघुर्विनाशमनिलो देशाटनं सोऽन्त्य-गः ।
तो व्योमान्तलघुर्धनापहरणं, जोऽर्को रुजं मध्य-गो,
भश्चन्द्रो यश उज्ज्वलं, मुखगुरुर्नो नाक, आयुस्त्रि-लः ॥

(यति का परिचय—)

श्लोकेषु विश्रमस्थानं 'पदच्छेदं' 'यतिं' विदुः ।

[भाषाटीका] छन्दों में—वर्णों का उच्चारण करते समय—(प्रत्येक पादों में बीच में) जो जिह्वा को थोड़ा-सा विश्राम देते हैं, उसे कविगण 'यति' 'विश्राम' या 'विराम' कहते हैं ।

(यतिके स्थान और यति के नियम—)

यतिर्भवति पादान्ते, श्लोकार्धे तु विशेषतः ।
क्वचित्तु पदमध्येऽपि कविभिर्यतिरिष्यते ॥ १२ ॥

१ दूसरे और चौथे चरण की अन्य किसी चरण के साथ सन्धि या समास नहीं होता है। यही दूसरे और चौथे चरणों की यति की विशेषता है ।

[भाषाटीका] (१) पाद के अन्त में 'यति' होती है। अर्थात् वहाँ थोड़ी देर ठहरना चाहिए।

(२) श्लोक के दूसरे और चौथे चरण की समाप्ति पर जिह्वा को कुछ थोड़ा ज्यादा विश्राम देना चाहिए। (३) कहीं २ पाद के बीच में भी यति होती है। जैसे—स्रग्धरा के (२१ अक्षर के पाद में) ७-७ अक्षरों पर ३ वार यति होती है। (४) 'स्रग्धरा' आदि छन्दों में कभी २ पदों को बीच में से तोड़कर भी यति होती है[1]।

(यतौ[1] विशेषतो विचारः—)

(१) व्यक्तविभक्तिके, अव्यक्तविभक्तिके च पादान्ते सर्वत्र यतिर्भवति। तत्र व्यक्तविभक्तिके पादान्ते उदाहरणं यथा—

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'। 'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयाताम्'।

अव्यक्तविभक्तिके पादान्ते उदाहरणं यथा—

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बि-चन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भ-मूलस्तम्भाय शम्भवे॥

(२) श्लोकार्धे तु विशेषतो[2] यतिः। उदाहरणं यथा—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।

(३) व्यक्तविभक्तिके, अव्यक्तविभक्तिके वा चतुरादिवर्णकपदान्तेऽपि यतिर्भवति। उदाहरणं व्यक्तविभक्तिके मन्दाक्रान्तायां—

यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।

अव्यक्तविभक्तिके चतुरादिवर्णकपदान्तेऽपि तत्रैवोदाहरणं यथा—

कश्चित्कान्ता—विरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।

(४) पूर्वापरभागयोरेकाक्षरात्मकत्वाऽभावे पदमध्येऽपि यतिर्यथा—

खेलल्लोलम्बकोला—हलमुखरितदिक्चक्रवालान्तरालम्।

---

१ अयं विचारः परीक्षानुपयोगी।

२ सन्धिकार्यसमासाद्यभावकृतोऽत्र पूर्वतो विशेषः।

(१) आर्या (मात्रा छन्द)

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश[१२] मात्रास्तथा[१२] तृतीयऽपि ।
अष्टादश[१८] द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश[१५] साऽऽर्या ॥१३॥

[टीका] यस्या जातेः प्रथमे[१] पादे, तृतीये[३] च पादे द्वादश[१२] मात्रा भवन्ति, द्वितीये[२] च पादे अष्टादश[१८] मात्रा भवन्ति, चतुर्थे[४] तु पादे पञ्चदश[१५] मात्रा भवन्ति, सा आर्या जातिर्भवति ।

[भाषा] जिस जाति के पहले और तीसरे पादों में १२, १२ मात्रा हों, और दूसरे पाद में १८ मात्रा हों, तथा चौथे पाद में १५ मात्रा हों, तो वह 'आर्या' कहलाती हैं ।

१ पाद—	मात्रा १२	२ पाद—	मात्रा १८
३ पाद—	मात्रा १२	४ पाद—	मात्रा १५

---

(५) पूर्वापरभागयोरेकाक्षरात्मकत्वाऽभावे संहितैकादेशः क्वचित् पूर्वान्तवद्भवति, तत्रैव च यतिरपि भवति । यथा—

(१) जम्भारातीभकुम्भो—द्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणूं ।

(२) वाताङ्कूराजिहीर्षोदरविवृतफणाशृङ्गभूषाभुजङ्गम् ।

(६) एकादेशो यतौ क्वचित्परादिवद्भवति । यथा—

अन्तेवासिदयालुरुज्झितनये—नाऽऽसादितो जिष्णुना ।

(७) यतौ यणादशः परादिवद्भवति । यथा—

वितितघनतुषारक्षोदशुभ्रासु दूर्वा-
स्वविरलपदमालाश्यामलामुल्लिखन्तः ।

(८) यतौ चादीनां पूर्वसम्बन्धनित्यत्वं भवति । यथा—

स्वादुस्वच्छं सलिलमपि—च प्रीतये कस्य न स्यात् ।

(९) यतौ प्रादीनां परसम्बन्धनित्यता भवति, यथा—

दूरारूढ-प्रमोदं हसितमिव—परिस्पृष्टमाशासखीभिः ।



उदाहरणं—

SSSS ।।S१२ S।।S S।S।S S S१८
[१] यस्याः पादे प्रथमे-(२) द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
SS।S।SS१२ ।S।SS।।। SS१५
[३] अष्टादश द्वितीये—[४] चतुर्थके पञ्चदश सार्या।

(२) अनुष्टुप् छन्द (८ अक्षरपाद)

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्वि-चतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं, दीर्घमन्ययोः ॥ १४ ॥

[टीका] यत्र वृत्ते पञ्चमं लघु, षष्ठं गुरु,द्वितीये चतुर्थे पादे च सप्तमं ह्रस्वं, प्रथमे तृतीये च पादे सप्तमं गुरु भवति, स 'श्लोक' इत्युच्यते।

[भाषाटीका] जिस (आठ अक्षर के पाद वाले) छन्द में प्रत्येक पाद का पाँचवाँ अक्षर लघु हो, और छठा गुरु हो, तथा दूसरे व चौथे पाद का सातवाँ अक्षर लघु हो, और पहिले तीसरे पाद का सातवाँ अक्षर गरु हो—तो वह'अनुष्टुप्' या 'श्लोक' या 'पद्य' कहलाता है। उदाहरण—

५ ६ ७ ५ ६ ७
।S S ।S।
(१) श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, (२) सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
५ ६ ७ ५ ६ ७
।S S ।S।
(३) द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं (४) सप्तमं, दीर्घमन्ययोः ॥

अस्यैव 'पद्य'मिति नाम्नाऽपि व्यवहारः। तदुक्तं—

(पद्यलक्षणं—)

'पञ्चमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम्' ॥

[भाषाटीका] जिस छन्द के चारो चरणों में पांचवाँ अक्षर लघु हो और छठा गुरु हो, तथा दूसरे चौथे चरण में सातवाँ अक्षर लघु हो, और तीसरे चौथे पाद का सातवाँ अक्षर गुरु हो, तो उसे 'पद्य' कहते हैं ॥

(३) इन्द्रवज्रा (११ अक्षर का पाद)

यस्यां त्रिषट्सप्तममक्षरं स्या-
द्ध्रस्वं, पुनर्वै नवमंञ्च तद्वत् ।
प्रज्ञाविलज्जीकृतवागधीशा-
स्तामिन्द्रवज्रां ब्रुवते कवीन्द्राः ॥ १५ ॥

[टीका] यत्र खलु वृत्ते प्रतिचरणं तृतीय-षष्ठ-सप्तम-नवमानि अक्षराणि लघूनि स्युः, तच्छन्दः-'इन्द्रवज्रा' इत्युच्यते ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि—

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः[1]'-इति ।

[भाषाटीका] जिस छन्द के प्रत्येक पाद में तीसरा, छठा, सातवाँ और नवाँ (३-६-७-९) अक्षर ह्रस्व (लघु) हो, और बाकी के सब अक्षर दीर्घ (गुरु) हों, तो उस छन्द को कवीश्वरगण 'इन्द्रवज्रा' कहते हैं ।

उदाहरण—

त०	त०	ज०	गु०	गु०
SSI	SSI	ISI	S	S
यस्यांत्रि—	षट्सप्त—	ममक्ष—	रं—	स्या-
द्ध्रस्वंसु—	बुद्धे!न—	वमं च—	त—	द्वत् ।
प्रज्ञावि—	लज्जीकृ—	तवाग—	धी—	शा—
स्तामिन्द्र—	वज्रां ब्रु—	वते क—	वी—	न्द्राः ।

१. अर्थात्—जिस छन्द में दो तगण, एक जगण, और दो गुरु हों, वह इन्द्रवज्रा कहलाता है । जैसे—त. SSI, त. SSI, ज़. ISI, गु. S, गु. S ।

(४) उपेन्द्रवज्रा (११ अक्षर का पाद)

यदीन्द्रवज्राचरणेषु पूर्वे
भवन्ति वर्णा लघवश्चतुर्षु ।
महाप्रभावैः प्रथितैस्तदानी-
मुपेन्द्रवज्रा कथिता कवीन्द्रैः ॥१६॥

[टीका] यदीन्द्रवज्रायाश्चतुर्षु चरणेषु प्रत्येकं प्रथमो वर्णो लघुः स्यादन्यत्सर्वमिन्द्रवज्रावदेव, तदा सा 'उपेन्द्रवज्रा' भवति ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि-[२]'उपेन्द्रवज्रा ज-त-जास्ततो गौ'-इति ।

[भाषाटीका] यदि इन्द्रवज्रा छन्द के चारों पादों का पहिला १-१ अक्षर (गुरु न होकर) लघु हो, तो उसे 'उपेन्द्रवज्रा' कहते हैं ।

उदाहरण—

ज०	त०	ज०	गु	गु
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ	ऽ

यदीन्द्र—व्रजा च—रणेषु—पू—र्वे
भवन्ति—वर्णा ल—घवःसु—बु—द्धे ! ।
गुरु प्र—साद-प्र—थितैस्त—दा—नी-
मुपेन्द्र—वज्रा क—थिता क—वी—न्द्रैः ।

(५) उपजातिः (११ अक्षर का पाद)

यत्र द्वयोरप्यनयोस्तु पादा
भवन्ति सङ्किय ! विनीतबुद्धे ! ।
विद्वद्भिराद्यैः परिकीर्त्तिता सा
प्रयुज्यतामित्युपजातिरेषा ॥ १७ ॥

१. 'यदीन्द्रवज्राचरणेषु पूर्वो विभर्त्ति वर्णो लघुतां सुबुद्धे' इत्येवं तु परे पठन्ति ।

२. यत्र जगण-तगण-जगणा, गुरुद्वयश्च क्रमेण न्यस्यते, सा उपेन्द्रवज्रेति गीयते । यथा—ज. ।ऽ।, त. ऽऽ। ज. ।ऽ।, गु. ऽ, गु. ऽ-इति ।

[टीका] यत्र वृत्ते इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुभयोरपि पादा मिलिताः स्युस्तद्वृत्तम्—'उपजाति'रिति कवयो भणन्ति ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे–

'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु
वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥'इति॥

[भाषाटीका] जिस छंन्द का कोई चरण 'इन्द्रवज्रा' का हो, और कोई चरण 'उपेन्द्रवज्रा' का हो, तो उसे 'उपजाति' कहते हैं। उदाहरण–

त त ज ग. ग.

ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ

(१) यत्र द्वयोरप्य—नयोस्तु पादा (–इन्द्रवज्राचरण)

ज त ज गु गु.

।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ

(२) भवन्ति सद्विद्य ! विशालबुद्धे ! । (–उपेन्द्रवज्राचरण)

ऽऽ।ऽऽ। ।ऽ।ऽ ऽ

(३) विद्वद्भिराद्यैः प—रिकीर्त्तिता सा (–इन्द्रवज्राचरण)

।ऽ। ऽऽ। ।ऽ।ऽऽ

(४) प्रयुज्यतामित्यु—पजातिरेषा ॥ (उपेन्द्रवज्राचरण)

देखो, इस उदाहरण में पहिला तीसरा चरण 'इन्द्रवज्रा' का है, और दूसरा व चौथा चरण 'उपेन्द्रवज्रा' का है, इस लिए यह उपजाति वृत्त कहलाता है। इसी प्रकार अन्य मिश्रित वृत्तों में भी जानना ।

(६) भुजङ्गप्रयातम् (१२ अक्षर का पाद)

यदाऽऽद्यं चतुर्थं तथा सप्तमं चे-
त्तथैवाऽक्षरं ह्रस्वमेकादशाद्यम्[10] ।
लसत्कीर्त्ति-वैदुष्य-शोभा-ऽनवद्यै-
स्तदोक्तं कवीन्द्रैर्भुजङ्गप्रयातम् ॥ १८ ॥

[टीका] यस्मिन् द्वादशाक्षरे वृत्ते—प्रथमं, चतुर्थं, सप्तमं, दशमं चाक्षरं ह्रस्वं भवति, तत् 'भुजङ्गप्रयातं' नाम वृत्तं भवति ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे-'भुजङ्गप्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भिः-, इति ।

[भाषा] द्वादशाक्षर पादवाले जिस छन्द के प्रत्येक चरण में १-४-७-१० अक्षर लघु हों, उसे 'भुजङ्गप्रयात' कहते हैं ।

उदाहरण—

य.	य.	य.	य.
।ऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ

यदाद्यं चतुर्थं तथास-प्तमं चे-
त्तथैवा-क्षरं ह्र-स्वमेका-दशाद्यम् ।
लसत्की-र्त्तिवैदु-ष्यशोभा-ऽनवद्यै-
स्तदोक्तं कवीन्द्रै-र्भुजङ्ग-प्रयातम् ॥

(७) द्रुतविलम्बितम् (१२ अक्षर का पाद)

अयि सखे ! ननु यत्र चतुर्थकं,
गुरु च सप्तमकं [10]दशमं तथा ।
विरतिजश्च[12] तथैव, विचक्षणै-
र्द्रुतविलम्बितमित्युपदिश्यते ॥१९॥

१ अर्थात्-जिसके प्रत्येक पाद में चार यगण । ऽ ऽ हों वह छन्द भुजङ्ग-प्रयात होता है ।

[टीका] यत्र द्वादशाक्षरघटितपादवति च्छन्दसि चतुर्थ[४]-सप्तम[७]-दशम[१०]-द्वादशा[१२] वर्णा गुरवः स्युः, तत्-द्रुतविलम्बितं' नाम वृत्तं भवति।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि-'द्रुतविलम्बितमाह न-भौ भ-रौ'[१]-इति।

[भाषाटीका] बारह अक्षर के पाद वाले जिस छन्द में चौथा, सातवाँ, दशवाँ और बारहवाँ (४-७-१०-१२) अक्षर गुरु हों, तो उसको कविगण 'द्रुतविलम्बित' छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

	न०	भ०	भ०	र०
	।।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।ऽ
(१)	अ-यि-स	खे-न-नु	य-त्र-च-	तु-र्थ-कं
(२)	गु-रु-च	सप्तम—	कं द-श-	मं त-था।
(३)	विं-र-ति	जं च-त	थै-व वि	च-क्ष-णै-
(४)	द्रु-त-वि	लम्बि-त	मित्युप-	दि श्य-ते।

(८) वंशस्थ(विलं) (१२ अक्षर का पाद)

उपेन्द्रवज्राचरणेषु सन्ति चे-
दुपान्त्यवर्णा लघवः स्थिता यदा।
स्फुरत्प्रभावोज्ज्वलकीर्तिशालिनो
वदन्ति वंशस्थमिदं बुधास्तदा ॥ २० ॥

[टीका] उपेन्द्रवज्रायाश्चतुर्षु चरणेषु एकादशो[११] वर्णो लघुः (न तु गुरुः) स्यात्तदा वंशस्थं नाम ('वंशस्थविलं' वा) वृत्तं भवति।

---

१ जिसके प्रत्येक चरण में नगण भगण भगण रगण हों, वह द्रुतविलम्बित छन्द कहलाता है। न्यास जैसे—न. ।।।, भ. ऽ।।, भ ऽ।।, रगण ऽ।ऽ,

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि–'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ'[1]–इति।

[भाषाटीका] उपेन्द्रवज्रा के चारों पादों का ग्यारहवाँ अक्षर (गुरु न होकर) लघु ही हो, तो उसे वंशस्थ(विल) वृत्त कहते हैं।

उदाहरण—

ज० त० ज० र०

। ऽ । ऽ ऽ । । । ऽ । ऽ । ऽ

(१) उ-पे-न्द्र व-ज्रा च-र णे-षु स-न्ति-चे-

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ

(२) दुपान्त्यवर्णा लघवः कृता मुदा।

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ

(३) स्फुरत्प्रभावोज्ज्वलकीर्त्तिशालिनो

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ

(४) वदन्ति वंशस्थविलं बुधास्तदा॥

(९) प्रहर्षिणी (१३ अक्षर का पाद)

आद्यश्चेत्त्रितयमथाष्टमं नवान्त्यं
चोपान्त्यं गुरु विरतौ यदा प्रयुक्तम्।
विश्रामो भवति महेशनेत्र-दिग्भि-
र्विज्ञेया ननु सुमते! प्रहर्षिणी सा॥२१॥

[टीका] यत्र त्रयोदशाक्षरपादशालिनि वृत्ते प्रथमं, द्वितीयं, तृतीयम्, अष्टमं, दशमं, द्वादशं, त्रयोदशञ्चाक्षरं गुरु भवेत्, एवं-त्रिभिर्दशभिश्चाऽक्षरैर्विश्रामो भवेत्–सा 'प्रहर्षिणी' नाम छन्दो भवति।

---

१ जिस छन्द के प्रत्येक चरण में—जगण । ऽ ।, तगण ऽ ऽ ।, जगण । ऽ ।, रगण ऽ । ऽ हों तो वह वंशस्थ छन्द कहलाता है।

२. (श्लोके) उपान्त्यं=द्वादशम्। विरतौ=अन्ते च, अर्थात्–त्रयोदशमक्षरम्। तथा=गुरु–स्यादित्यक्षरार्थः।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि-'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'—इति।
[भाषाटीका] जिस छन्द के प्रत्येक पाद में १-२-३-८-१०-१२-१३ अक्षर गुरु हों, और प्रत्येक पाद में तीन अक्षर और दश (अर्थात् तीसरे व तेरहवें) अक्षरों पर विराम हो, तो वह प्रहर्षिणी छन्द होता है।

उदाहरण—

म०	न०	ज०	र०	गु०
ऽ ऽ ऽ	। । ।	। ऽ ।	ऽ । ऽ	ऽ
आ द्य श्चे	त्रि त य	म था ष्ट	मं न वा	न्त्यं
चोपान्त्यं	गु रु वि	र-तौ त	था-प्र-यु	क्तम्।
विश्रामो	भ-व-ति	म-हे-श-	ने-त्र-दि-	ग्भि-
विं-ज्ञे या	न नु क	वि ना प्र	ह र्षिणी	सा॥

(१०) वसन्ततिलका (१४ अक्षर का पाद)

आद्यं द्वितीयमपि चेद्गुरु तच्चतुर्थं
यत्राष्टमञ्च दशमान्त्यमुपान्त्यमन्त्यम्[1]।
तर्काङ्कुशो-पहत-वादिमतङ्गजेन्द्राः
प्राज्ञा वसन्ततिलकां किल तां वदन्ति ॥२२॥

[टीका] यस्मिन्-चतुर्दशाक्षरपादशालिनि च्छन्दसि प्रथमं, द्वितीयं, चतुर्थम्, अष्टमम्, एकादशं, त्रयोदशं, चतुर्दशं चाक्षरं गुरु भवति, तच्छन्दो 'वसन्ततिलका' इति कवयो वदन्ति।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति।
[भाषाटीका] जिस (१५ अक्षर वाले) छन्द के प्रत्येक पाद में १-२-४-८-११-१३-१४ वां अक्षर गुरु हो,—उसे 'वसन्ततिलका' छन्द कहते हैं।

---

१. जिस छन्द के प्रत्येक चरण में—तगण ऽऽ।, भगण ऽ।।, जगण ।ऽ।, जगण ।ऽ।, एवं दो गुरु ऽऽ हों, वह 'वसन्ततिलका' छन्द कहलाता है।

उदाहरण—

त०	भ०	ज०	ज०	गु०	गु०
S S ।	S । ।	। S ।	। S ।	S	S

(१) आ-द्यं-द्वि तीय-म पि चे-द्गु रु त-च—तु—र्थं

(२) य-त्रा-ष्ट म-ञ्च-द शमान्त्य मु-पान्त्य-म—न्त्यम् ।

(३) स-त्त कै- युक्तिजि- तवा-दि म त ङ्ग—जे—न्द्राः

(४) प्राज्ञा-व सन्तति लकां कि ल-तां व—द—न्ति ॥

(११) मालिनी (१५ अक्षर का पाद)

प्रथममगुरु षट्कं विद्यते यत्र वृत्ते,
तदनु च दशमंश्चेदक्षरं द्वादशान्त्यम् ।
करिभिरथ तुरङ्गैर्यत्र च स्याद्विरामः,
सुकविजनमनोज्ञा मालिनी सा प्रसिद्धा ॥२३॥

[टीका] यस्मिन् पञ्चदशाक्षरपादवति च्छन्दसि—आद्याः षट्, तदनु—दशमः, एवं त्रयोदशश्च—इमे वर्णा लघवो भवन्ति, अष्टभिः, सप्तभिश्च (अर्थात् अष्टमे, पञ्चदशे चाक्षरे) विरामो भवति, सा 'मालिनी'ति कविभिः कथ्यते ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि—

"न—न—म—य-य—युतेयं मालिनी भोगिलोकैः"—इति ।

[भाषाटीका] जिस (१५ अक्षर के पाद वाले) छन्द में प्रत्येक पाद में १—२—३—४—५—६—१०—१३ वाँ अक्षर लघु हों, और प्रत्येक आठ और सात (अर्थात् आठवें और पन्द्रहवें) अक्षर पर विश्राम होता हो, तो उसे कवि लोग 'मालिनी' छन्द कहते हैं ।

१. जिस छन्द में—नगण ।।।, नगण ।।।, मगण SSS, यगण ।SS और यगण ।SS हों, और भोगी नाम आठ, और लोक नाम सात (अर्थात् ८ वें व १५ वें) अक्षर पर यति हो तो, उसे 'मालिनी' छन्द कहते हैं ।

उदाहरण—

न०　न०　म०　य०　य०

।।।　।।।　ऽऽऽ　।ऽऽ　।ऽऽ

प्रथ-म- मगुरु—षट्कं वि--द्यते य--त्र वृत्ते
तद-नु-- च दश—मञ्जेद- क्षरं द्वा- दशान्त्यम् ।
करिभि- रथ तु—रङ्गैर्य- त्र च स्या-द्विरामः
सुकवि- जनम- नोज्ञा मा-लिनी सा-प्रसिद्धा ॥

(१२) हरिणी (अक्षर का पाद)

सु[1]मु[2]ख[3]! ल[4]घवः प[5]ञ्च प्राच्यास्ततो दशमान्तिके[11]-
स्तदनु च सखे ! वर्णौ स्यातां लघू त्रि[13] चतु[14]र्दशौ[16] ।
प्रभवति पुनर्यत्रो[6] पान्त्यः, स्फुरद्गुणशील हे !
यतिरपि रसैर्वे[4] दै[7]रश्वैः स्मृता हरिणीति सा ॥२४॥

[टीका] यस्मिन्त्सप्तदशाक्षरपादशालिनि च्छन्दसि—आद्याः पञ्च वर्णा लघवो=ह्रस्वाः स्युः, तदनु-एकादशः, त्रयोदशः, चतुर्दशः षोडशश्च वर्णोऽपि लघुर्नाम=ह्रस्वो भवेत् । किञ्च षड्भिः, चतुर्भिः, सप्तभिश्च विरामो भवेत्सा 'हरिणी'ति कविभिरुच्यते ।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे-

'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा—' इति ।

---

१. जिस छन्द के—प्रत्येक चरण में—नगण ।।।, सगण ।।ऽ, मगण ऽऽऽ, रगण ऽ।ऽ, सगण ।।ऽ हों तथा एक लघु—।, और एक गुरु—ऽ भी हो, एवं रस नाम-छठे, युग नाम—चौथे, हय नाम—सातवें अक्षर पर विश्राम हो, तो उसे 'हरिणी' छन्द कहते हैं ।

[भाषाटीका] जिस (१७ अक्षर के पाद वाले) छन्द में—प्रति चरण में १–२–३–४–५–११–१३–१४–१६ वाँ अक्षर लघु हो, और ६–४–७ अक्षरों पर विराम हो (अर्थात् छठे, १० वें और १७ वें अक्षर पर विश्राम हो) तो उसे 'हरिणी छन्द' कहते हैं।

उदाहरण—

न०	स०	म०	र०	स०	ल०	ग०
।।।	।।ऽ	ऽऽऽ	ऽ।ऽ	।।ऽ	।	ऽ

सुमुख !–लघवः--पञ्च प्रा--च्यास्ततो--दशमा—न्ति—क—
स्तदनु—च सखे-! वर्णौ स्या-तां लघू-त्रिचतु—र्द—शौ।
प्रभव—ति पुन—र्यत्रो-पान्त्यः स्फुर-द्गुणशी-ल !—हे !
यतिर—पि रसै—र्वेदै-र-श्वैः स्मृता—हरिणी ति—सा॥

(१३) शिखरिणी (१७ अक्षर का पाद)

यदा पूर्वो ह्रस्वः, सुविमलमते ! षष्ठकपरा-
स्ततो वर्णाः पञ्च प्रकृतिसरलोदार ! लघवः।
त्रयोऽन्ये चोपान्त्यौ विबुधजनसंमोहन ! सखे !
रसै रुद्रैर्यस्यां भवति विरतिः, सा शिखरिणी ॥२५॥

[टीका] यस्मिन् वृत्ते-प्रथमः, सप्तमः, अष्टमः, नवमः, दशमः, एकादशः, चतुर्दशः, पञ्चदशः षोडशश्च वर्णो लघुर्नाम ह्रस्वो भवेत्। किञ्च षड्भिरेकादशैश्चाक्षरैर्विरामो भवति. सा 'शिखरिणी' नाम छन्दो भवति।

---

१. जिस छन्द में यगण—।ऽऽ, मगण—ऽऽऽ, नगण—।।।, सगण—।।ऽ, भगण–ऽ।।, हो, तथा एक लघु–।, और एक गुरु-ऽ हो एवं छठे और ग्यारहवें अक्षर पर विराम हो, तो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं।

तदुक्तं—वृत्तरत्नाकरेऽपि-

रसै रुद्रैश्छिन्ना य-म-न-स-भ-ला गः शिखरिणी' इति।

[भाषाटीका] जिस छन्द के प्रत्येक चरण में १-७-८-९-१०-११-१४-१५-१६ वाँ अक्षर लघु हों, (और २-३-४-५-६-१२-१३-१७ अक्षर गुरु हों), तथा ६-११ अक्षरों पर (अर्थात् छठे और सत्रहवें अक्षर पर) विराम हो, तो उसे 'शिखरिणी छन्द' कहते हैं।

उदाहरण—

य०	म०	न०	स०	भ०	ल०	गु०
।ऽऽ	ऽऽऽ	।।।	।।ऽ	ऽ।।	।	ऽ
यदा-पू	र्वो-ह्रस्वः	सुविम	लमते !	षष्ठक	प	रा—
स्ततो व	र्णाःपञ्च	प्रकृति	सरलो	दारल	घ	वः।
त्रयोऽन्ये	चोपान्त्या	गुरु ज	नमनो	-मोहन !	स	खे !
रसै रु	-द्रैर्यस्यां	भवति	विरतिः	सा शिख	रि	णी॥

(१४) मन्दक्रान्ता (१७ अक्षर का पाद)

चत्वारः प्राक्सुमुख ! गुरवो, द्वौ दशैकादशौ चेद्-
वृत्ते वर्णौ, तदनु च सखे ! द्वौ गुरू द्वादशान्त्यौ॥
तद्वच्चाऽन्त्यौ युगरसहयैर्यत्र च स्याद्विरामो,
मन्दक्रान्तां प्रवरकवयस्तां तदा सङ्गिरन्ते ॥२६॥

[टीका] यत्र सप्तदशाक्षरपादशालिनि च्छन्दसि-प्रथमः द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, दशमः, एकादशः, त्रयोदशः, चतुर्दशः, षोडशः, सप्तदशश्च वर्णो गुरुः स्यात्तथा-चतुर्भिः, षड्भिः, सप्तभिश्च विरामः स्यात्तदा तत्खलु 'मन्दाक्रान्ता' नाम छन्दो नाम भवति।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि—

'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत्' इति ।

[भाषाटीका] जिसके प्रत्येक चरण में—पहला दूसरा, तीसरा चौथा, दशवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ, सोलहवाँ, सत्रहवाँ, (१–२–३–४–१०–११–१३–१४–१६–१७) अक्षर गुरु हों, और चार, छै, सात इन अक्षरों पर प्रत्येक पाद में विराम हो, तो उसे मन्दक्रान्ता' कहते हैं ।

उदाहरण—

म०	भ०	न०	त०	त०	गु०	गु०
S S S	S । ।	। । ।	S S ।	S S ।	S	S
चत्वारः	प्राक्सु मु	ख गुर	वो-द्वौ-द	शैका द	शौ	चे—
द्वृत्ते-व	र्णौ–तद	नु च स	खे-द्वौ-गु	रू द्वा द	शा	न्त्यौ ।
तद्व क्रा	न्त्यौ युग	र–सह	यैर्यत्र	त्र स्याद्वि	रा	मो
मन्द क्रा	न्तां प्रव	रकव	यस्तां मु	दा–सङ्गि	र	न्ते ॥

(१५) शार्दूलविक्रीडितम् (१९ अक्षर का पाद)

आद्याश्चेद्गुरवस्त्रयः किल सखे ! षष्ठस्तथा चाष्टमो,
नन्वेकादशतस्त्रयस्तदनु चेदष्टादशो द्वौ ततः ।
मो चण्डैर्मुनिभिश्च यत्र विरतिः षट्शास्त्रपारङ्गताः
प्राज्ञास्तत् प्रवदन्ति काव्यरसिकाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥२७॥

[टीका] यत्र वृत्ते–प्रथम द्वितीय-तृतीय-षष्ठा-ऽष्टम–द्वादश-त्रयोदश चतुर्दश–षोडश-सप्तदशै-कोनविंशा वर्णा गुरुवः स्युः, तथा–द्वादशभिः सप्तभिश्च यतिः स्यात्तत् 'शार्दूल-विक्रीडितं' नाम छन्दो भवति ।

१. जिस छन्द में—मगण S S S, भगण S । ।, नगण । । ।, तगण S S ।, तगण—S S ।, हों एवं अन्त्य में दो अक्षर गुरु हों, एवं चौथे छठवें और सत्रहवें अक्षर पर विराम हो तो उसे कविजन मन्दाक्रान्ता छन्द कहते हैं।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि-

'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्[1]'-इति।

[भाषाटीका] १६ अक्षर के पादवाले जिस छन्द के प्रत्येक पाद में १-२-३-६-८-१२-१३-१४-१६-१७-१६ वाँ—अक्षर गुरु हों, और १२-और ७ पर (अर्थात्—१२ वें और १६ वें पर) विराम हो, तो वह 'शार्दूलविक्रीडित' नामक छन्द होता है।

उदाहरण—

म	स	ज	स	त	त	गु
SSS	IIS	ISI	IIS	SSI	SSI	S
आद्याश्चेद्	गुरव	स्त्रयःशृ	णु! सखे!	षष्ठस्त	थाचाष्ट	मः

इसी प्रकार बाकी तीनों पादों में भी उदाहरण समझना।

(१६) स्रग्धरा (२१ अक्षर का पाद)

चत्वारो यत्र वर्णाः प्रथममलघवः, षष्ठकः, सप्तमोऽपि,
द्वौ तद्वत्षोडशाद्यौ सहृदय! भवतः षोडशाऽन्त्यौ तथाऽन्त्यौ।
विद्याभ्यासोरुबुद्धे! मुनिमुनिमुनिभिर्दृश्यते चेद्विरामो,
प्राज्ञैर्वन्द्यैः कवीन्द्रैः सपदि निगदिता स्रग्धरा सा प्रसिद्धा ॥२८॥

[टीका] यस्मिन् एकविंशत्यक्षरयुक्तपादशालिनि वृत्ते प्रत्येकं चतुर्षु चरणेषु – प्रथमो, द्वितीयः, तृतीयः, चतुर्थः, षष्ठः, सप्तमः चतुर्दशः, पञ्चदशः, सप्तदशः, अष्टादशः, विंशः, एकविंशश्च वर्णो गुरुर्भवति, एवं सप्तसु, सप्तसु, सप्तसु च वर्णेषु त्रिवारं विरामो भवति, तच्छन्दः कविभिः 'स्रग्धरा' इत्युच्यते।

---

१. जिस छन्द के प्रत्येक चरण में मगण SSS, सगण IIS, जगण ISI, सगण-IIS, तगण-SSI, तगण-SSI हों, तथा अन्तिम एक अक्षर गुरु हो, एवं सूर्य नाम १२ वें, अश्व नाम ७ वें अक्षर (अर्थात् १२ वें १६ वें) पर विराम हो, तो वह शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द कहलाता है।

तदुक्तं वृत्तरत्नाकरेऽपि—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति।

[भाषाटीका] जिस २१ अक्षर के पाद वाले छन्द में प्रति चरण में १-२-३-४-६-७-१४-१५-१७ १८-२०-२१ ये अक्षर गुरु हों, (और बाकी के अक्षर लघु हों), तथा प्रत्येक ७ वें वर्ण पर विराम हो, (अर्थात् प्रत्येक पाद में-सातवें ७, चौदहवें १४, और इक्कीसवें २१ अक्षर पर विराम हो) तो उसको 'स्रग्धरा' वृत्त कहते हैं।

उदाहरण—

म०	र०	भ०	न०	य०	य०	य०
SSS	SIS	SII	III	ISS	ISS	ISS
चत्वारो	यत्र-व	र्णाःप्रथ	ममल	घवः ष	ष्ठ-कःस	प्रमोऽपि

(इत्यादि)

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिव्याकरणाद्याचार्यविरचिता छन्दो—मन्दाकिनी।

१. जिस छन्द में-मगण SSS, रगण-SIS, भगणSII, नगण-III, यगण-ISS, यगण-ISS, यगण-ISS, हों, एवं त्रिमुनि अर्थात् सातवें-सातवें अक्षर पर तीन वार यति हो, तो वह 'स्रग्धरा' छन्द कहलाता है।

संस्कर्त्ता—आचार्य-श्रीसीतारामशास्त्री,
'व्याकरणाचार्यः', 'साहित्यरत्नं' 'राजशास्त्री',
प्रिन्सिपल—सेठ-श्रीराधाकृष्णपोद्दार-संस्कृत-विद्यालय,
रामगढ़-जयपुर।

मुद्रक—पं० वैकुण्ठनाथ भार्गव, आनन्दसागर प्रेस गायघाट, बनारस १...


3